ओ३म्

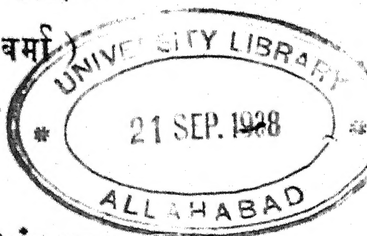
ज्ञान-विचार-गीता

[ईश्वर, जीव तथा प्रकृति सम्बन्धी
सरल उपदेश]

लेखक—

ब्रह्मवास वंशीधर अग्रवाल

टाएडौंजी (अपर बर्मा)



प्रकाशक—

श्रीयुत वंशीधर नौरंगलाल

जनरल मरचेन्ट एएड कमीशन एजेन्ट

टाएडौंजी (बर्मा)

दिसम्बर, १९३७

प्रथम संस्करण २००

[मूल्य ॥)

मुद्रक—सत्यभक्त
दि फाइन आर्ट प्रिन्टिङ्ग कॉटेज,
चन्द्रलोक—इलाहाबाद

समर्पण

"ज्ञान-विचार-गीता" नामक दो सहस्त्र
पुस्तकों को ऐंग्लो वर्नाक्यूलर
हिन्दू स्कूल टाण्डौजी की
सेवा में सादर सहर्ष
समर्पण करता हूँ।

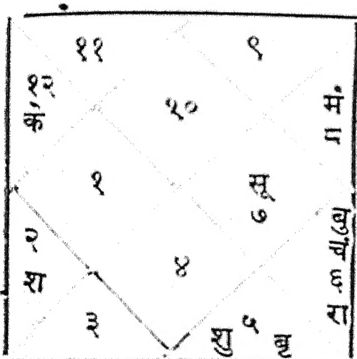
—वंशीधर नौरङ्गलाल, टाण्डौजी

पुस्तक-रचयिता का कुण्डली-चक्र

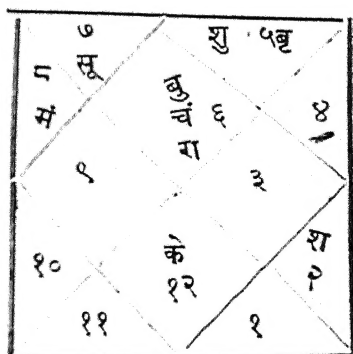
श्रीमान् ब्रह्मवास बाबू बंशीधर जी की जन्म-कुण्डली और राशि कुण्डली इस प्रकार है :—

श्री शुभ सम्वत् १९४१ शाके १८०६ कार्तिक कृष्ण ३० (अमावस) सूर्योदयात् गत घ० २०, प० २७

जन्म कुण्डली



राशि कुण्डली



प्रस्तावना

हिन्दू-धर्मशास्त्रों में श्रीमद्भगवद्गीता अत्यन्त उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश के रूप में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के गूढ़ से गूढ़ तत्वों का बहुत ही सरलतापूर्वक स्पष्टीकरण किया है। वास्तव में यह पवित्र ग्रन्थ मानव-जीवन के लिए अमृत तुल्य है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद प्रकाशित करके अन्य देशीय लोग भी इससे लाभ उठा रहे हैं। परन्तु खेद का विषय है कि हम लोगों ने अभी तक गीता के महत्व को पूर्ण रूप से नहीं समझा है। जिस पवित्र भारत-भूमि पर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता-रूपी अमृत की वर्षा की, वहाँ के निवासी उससे पूर्ण लाभ न उठावें और उसके द्वारा जीवन-मुक्ति न प्राप्त करें तो यह उनका दुर्भाग्य ही है। अस्तु।

इस पुस्तक के रचयिता बाबू ब्रह्मवास वंशीधर जी अग्रवाल श्रीमद्भगवतगीता के अनन्य प्रेमी तथा भक्त हैं। आपने गीता के महत्व को ख़ूब अच्छी तरह समझा है और उसके प्रचार की आपके हृदय में प्रबल भावना है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके आपने इस पुस्तक की रचना की है। गीता के प्रायः सभी उच्चकोटि के दार्शनिक तत्व, अत्यन्त सरल हिन्दी भाषा में विचार

के रूप में लिखे गये हैं। इस पुस्तक में इसी प्रकार के २६० विचार संग्रहीत किये गए हैं। केवल साधारण हिन्दी जानने वाला व्यक्ति भी इसे पढ़ कर आतमा-परमात्मा सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मानव-जीवन में सांसारिक कर्म करते हुए मनुष्य किस प्रकार मुक्ति प्राप्त कर सकता और पवित्र जीवन बिता सकता है, यह इस पुस्तक में अच्छी तरह दरशाया गया है। वास्तव में ऐसी सरल, सुन्दर तथा उपदेशपूर्ण पुस्तक के लिए लेखक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है, हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन इस पुस्तक को पढ़ कर लाभ उठावेंगे और लेखक के परिश्रम को सफल करेंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची



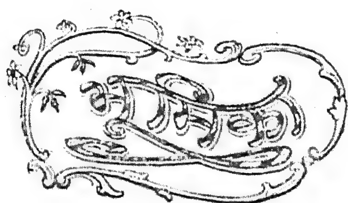
पुस्तक के रचयिता

ब्रह्मवास वंशीधर (टान्डौजी निवासी)

प्रेम-पूर्वक इस ज्ञान-विचार-गीता को पढ़िए और लिखे हुए नियमों का पालन कीजिए। इन वस्त्रों में भी मुक्त होगा।



॥ सच्चिदानन्देश्वराय नमः ॥





३म् सच्चिदानन्द रक्षा कीजिये, ओ३म् सच्चिदानन्द सहायता दीजिये, ओ३म् निराकार निर्विकार तेज रूप अंतरयामी आपकी शरण हूँ, आप ही के आधीन हूँ, आप ही का सेवक हूँ। हे स्वामी आप अखंडित उद्यत नित्य मुक्त सर्वोत्तम सर्वव्यापक हैं। ओ३म् कुबेर ईश्वर आपके भंडार से स्वतंत्रता प्राप्त हो, पराधीनता से मुक्त करके बुद्धि देकर रक्षा कीजिये। दिनों-

दिन बुद्धि को बढ़ाइये, आपके जनाने से ही इस जीवात्मा ने जानकर इस 'ज्ञान विचार गीता' को बनाना आरम्भ किया है। जीवात्मा माया-मोह भ्रम-जाल में फँसकर जिस प्रकार शहद पर मक्खी चिपट जाती है वैसे ही इस माया में गोता लगाता है, परन्तु जब परमात्मा की दया और प्रारब्ध संचय कर्म ज़ोर देकर प्राणी को खींच कर परमात्मा में लगा देता है, तब मोक्ष का रास्ता दिखलाई पड़ता है।

(२) मेरा जन्म वैश्य अग्रवाल जाति में हुआ है और निवास-स्थान तथा पालन-पोषण राजपूताना बीकानेर श्री महाराज गंगासिंह जी के अधीनस्थ चूरू नामक ग्राम में हुआ है। मैंने इक्कीस वर्ष की अवस्था में ब्रह्मदेश में प्रवेश किया। इस समय टान्डोजी निवासी हूँ। मैं हिन्दी पढ़ सकता हूँ। लेकिन लिख नहीं सकता हूँ। मेरी आत्मा में कितनी वार इस बात की चेष्टा उत्पन्न हुई कि एक पुस्तक निर्माण करनी चाहिये। परन्तु हिन्दी लिखना नहीं जानता था, इससे मारवाड़ी भाषा में लिखता था जिसको पीछे पढ़ नहीं सकता था। इससे लाचार होकर यह अभिलाषा मन की मन ही में रहा। परमात्मा की असीम कृपा से श्रीयुत पंडित श्रीकान्त जी मास्टर ने मेरे ऊपर घोर अनुग्रह करके इस कार्य में सहायता दी और हिन्दी में

मेरे विचारों को लिखना आरंभ किया। न इसमें किसी का खंडन है और न किसी का मंडन है, केवल ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी विषय हैं। तीनों भिन्न २ हैं। तीनों इस जगत का मूल कारण हैं। तीनों में एक न होता तो जगत भी न होता। ब्राह्मण इस 'ज्ञान विचार गीता' को पक्ष छोड़कर पढ़ें और विचार करें, क्षत्रिय अपने कार्य से निवृत होकर विचार करें और पढ़ें, वैश्य अपने व्यवहारों से निवृत होकर एकान्त में बैठ कर पढ़ें और विचार करें, अनपढ़ इस ज्ञान विचार गीता को दूसरे से सुनकर विचार करें. लेकिन इस बात का पूरा २ ध्यान रहे कि ब्रह्म-विद्या अति सूक्ष्म आत्मा के ग्रहण करने योग्य है, इससे एकान्त में विचार करना चाहिये। और जो इस ज्ञान-विचार-गीता में मोक्ष और बन्धन न्यारे २ बतलाये गये हैं, इसका कारण यह है कि बन्धन कर्मों को भलीभाँति समझ ले और नित्य-प्रति छोड़ने का प्रयत्न करे। मोक्ष को इसलिये पृथक् बतलाया गया है, कि ब्रह्म-विद्या अति सूक्ष्म है जैसे रामायण में लिखा है कि—

दोहा:—कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होय घुणाक्षर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

(३) इसको जानना सहज बात नहीं है, अतः बारंबार पढ़ते रहने से कल्याण हो ही जाता है। इसलिये

दोनों संयुक्त होने से पढ़ने वाले को बंधक कर्म जानने के निमित्त बड़े २ ग्रन्थों को आदि से अंत तक पढ़ना पड़ता है। प्रत्येक प्राणी अपने कल्याण के लिये बंधक कर्मों को छोड़ दें, और मोक्ष कर्मों को जो पृथक् किये गये हैं उनको पढ़कर अपने कल्याण का रास्ता लें।

(४) इस जगत में प्राणी कर्मों से बँधा हुआ आता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक चालू दूसरा संचय। चालू कर्मों को इस शरीर से भोगना ही पड़ेगा, और संचय कर्म ज्ञान द्वारा नष्ट हो जायगा। चालू कर्म जब जीव शरीर में जाता है उसी समय से आरंभ हो जाता है, और शरीर के छोड़ने के पश्चात् चुक जाता है। इस शरीर में उन चालू कर्मों को पूरा चुकती नहीं करता और जो आत्म-हत्या करने वाले प्राणी को अपना चालू कर्म और आत्मघात करने का पाप लगता है, इन तीनों को दूसरा जन्म लेकर साथ २ भोगना ही पड़ेगा। इससे ज्ञानी पुरुषों को ध्यान रखना चाहिये कि अपने चालू कर्मों में जो २ संकट आवें उनको शान्ति से सहन करें और जो संचित कर्म हैं उनका तो ज्ञान द्वारा नाश हो ही जाता है। यह शरीर छोड़ने के पश्चात् ज्ञानी पुरुष ब्रह्म में मिल जाता है।

(५) शनैः-शनैः मेरे अंतःकरण में जो विचार बहुत

दिनों से जमा हुआ था वह मैं आज आप सज्जनों के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ। जिसको सज्जन लोग विचार करें। इस नित्य सुख के तुल्य और सुख नहीं है। इस जगत के आवागमन से छूटना ही दुःख से छूटना है, और इस दुःख से छूट करके परमानन्द में मिलना ही पूर्ण स्वतंत्रता है।

(६) मैंने इस कार्य को श्री शुभ सम्वत् १९९३ चैत्र वदी १२ बृहस्पतिवार तदनुसार ८ अप्रैल सन् १९३७ ईसवी को आरम्भ किया और चैत्र सुदी १२ सं० १९९४ बृहस्पतिवार, २२ अप्रैल सन् १९३७ ई० को पूर्ण हुआ ॥ इति ॥

टान्डोजी (अपर वर्मा)
२२-४-३७

—ब्रह्मवास वंशीधर

———

ओ३म

अथ ज्ञान-विचार-गीता

ईश्वर विषय



आदि देव परमात्मा है, अपनी शक्ति अति उत्तम जिससे इस जगत को बनाता और धारण करता और प्रलय करता है।

(८) जीव और प्रकृति वही शक्ति रूप है। जीव चैतन्य और प्रकृति अचेतन स्वभाव वाले हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं, सदा से हैं, सदा रहेंगे। इन तीनों का आदि, अन्त नहीं है। ईश्वर अति सूक्ष्म चेतन स्वरूप है, जीव निर्मलता से कर्ता है। ईश्वर नियमित और प्रकृति इस जगत के कारण हैं। प्रलय की समाप्ति और रचना का आरम्भ। ईश्वर ने नियमित इस जगत को प्रकृति रूप कारण से फैलाया है। जगत स्थूल नेत्रों से देखनेवाली का नाम कार्य रूप है। इसका

कारण रूप प्रकृति है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म जीव, जीव से सूक्ष्म शक्तिवान परमात्मा है।

(९) ईश्वर अपनी शक्ति से ब्रह्माण्डों की रचना और धारणा करके इन ब्रह्माण्डों में सूक्ष्म रूप से भरा हुआ है। जीवात्मा में रह कर भी उससे भिन्न है। माया और जीव दोनों तत्व ईश्वराधीन हैं।

(१०) जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, तथा फल भोगने में ईश्वराधीन है। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुणां-युक्त प्रकृति मध्यम श्रेणी की है। जीवात्मा श्रेष्ठ निर्गुण उत्तम श्रेणी का है। ज्ञान पर अज्ञान का परदा पड़ने से सत-रज-तम-युक्त गुणों में कर्म करने से बन्धक हो जाता है। आकाश से हवा, हवा से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी के साथ-साथ सब लोक और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। सूर्यादि नक्षत्र, सूर्य से वर्षा, वर्षा से औषधि, औषधियों से अन्नादि उत्पन्न हुये।

(११) जड़ सृष्टि के बाद परमात्मा ने आदि सृष्टि में जिन जीवों को आना था, उन सहस्रों स्त्री, पुरुषों को तरुणावस्था में निर्माण किया।

(१२) प्रथम सृष्टि के आदि में ब्रह्म अर्थात् पर-

मात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों की आत्मा में एक एक वेद का प्रकाश किया।

(१३) अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष, पुरुषों से कर्म, कर्म से मैथुन सृष्टि आरम्भ हुई। इस सृष्टि का आदि पूज्य गुरु ब्रह्मदेव है, जिसमें पृथ्वी, सूर्य आदि लोक स्थित हैं, और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जानना चाहिये। जो मनुष्य न जानता, न मानता, न ध्यान करता, वह मतिमन्द सदा दुःख-सागर में डूबा रहता है। इससे उस परमात्मा को जानना चाहिये। उस महा पिता परमेश्वर के समान गुण और कर्म-युक्त चेतन व अचेतन जो है, वह सब देव ही है।

(१४) ईश्वर देवों का देव होने से महादेव कहलाता है। उसको जानकर जीव मुक्ति को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इससे न्यायाचरण रूप धर्मयुक्त अपनी आत्मा से आनन्द को भोगे। ईश्वर सबको उपदेश करता है कि मैं प्रत्यक्ष हूँ, सूक्ष्म रूप ज्ञान से जानने योग्य हूँ, जैसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु जिह्वा, घाण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, सुख दुःख, सत, असत, विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को

प्रत्यक्ष कहते हैं। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रिय और मन से रज, तम, सत गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

(१५) इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेषादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी परमेश्वर भी प्रत्यक्ष है। ईश्वर सबसे उत्तम, सबसे आदि और सर्वव्यापी दयालु है, इससे उसको मानना चाहिये। कल्याणदाता सच्चिदानन्द आनन्द स्वरूप सदा सबकी भलाई चाहने वाला है, निराकार सर्वव्यापक होकर भी निर्विकार है। तेज रूप से सब प्राणियों में व्यापक होकर जगत को बनाता है, आनन्द में रखता, अखंडित, उद्यत, नित्यमुक्त रहता है। उसी की शरण जाइये सत और असत का विचार कीजिये, सत का ग्रहण और असत का त्याग कीजिये। कार्य-रूप जगत को अनित्य समझकर ममता रहित होकर जानिये। जब जीवात्मा इन्द्रियों के वशीभूत होकर बुरा कर्म करने को चलता है उस समय परमात्मा की ओर से जीवात्मा में भय, शंका, लज्जा की उत्पत्ति हो जाती है। उसी समय परमात्मा की आज्ञा का पालन करना, अबन्धन और न करना बन्धन है। बन्धन ही से जीव दुःख को प्राप्त होता है और अबन्धन से सुख को प्राप्त होता है। जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने पर तत्पर होता है उसी समय उसको जीवात्मा में परमा-

त्मा का प्रत्यक्ष होता है। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो उसी पारब्रह्म परमात्मा को भजना चाहिये, अन्य को नहीं। फिर परमेश्वर के ज्ञान होने में क्यों सन्देह करते हो ?

(१६) वह परमात्मा जो सर्वव्यापक है, जानने योग्य है, वह अत्यन्त सूक्ष्म इस जगत और जीव का आत्मा है। वही सत्य स्वरूप और अपनी आत्मा आप ही है। उस परमात्मा अंतर्यामी से तू युक्त है। परमेश्वर जीवों में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। उसी को मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। उसको जानना योग्य है। समाधिस्थ में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।

(१७) परमात्मा वह है जिससे ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद प्रकाशित हुये हैं। सनातन जीव रूप प्रजा के कल्याणार्थ वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है। जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों पर कृपा-दृष्टि करके उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने भी

सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों का प्रकाश किया है, जिससे मनुष्य अविद्या अंधकार भ्रम जाल से छूटकर विद्या विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यन्त आनन्द में रह सुख की वृद्धि करता जावे।

(१८) जिसका नाम ओ३म् है और जो कभी भी नष्ट नहीं होता। इस ब्रह्मांड को धारण करने से सर्वशक्तिमान, जगत बनाने से ब्रह्मा, पालन करने से विष्णु, सर्वत्र व्यापक होने से साक्षी, कर्मों के अनुसार दंड देने से न्यायाधीश है। उसी पारब्रह्म को भजिये। वही नित्य है और सब अनित्य है, प्रलय में सब का काल और कालका भी काल है। जैसे प्राणों के वश सब शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत रहता है इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक जानने से ही परमेश्वर का ध्यान करना योग्य है, जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाशक है, जिसका सत विचार शील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है। जिसका विनाश कभी नहीं उसी का स्मरण करना उत्तम है। जो ज्ञानयुक्त सचराचर जगत के व्यवहारों को यथावत् जानता है, श्रेष्ठ उसी को कहते हैं। जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ है, उसी को परमेश्वर कहते हैं।

(१९) उसके तुल्य न कोई हुआ है और न होगा। अन्य किसी जड़ पदार्थ व जीव में यह सामर्थ्य नहीं है।

(२०) जो पदार्थ सत्य है उसी के गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं, इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर ही को स्मरण किया करें। आत्म-योगी विद्वान मुक्ति की इच्छा करने वालों के लिये परमेश्वर ही सबसे श्रेष्ठ है। जो बड़े से बड़ा और आकाशादि ब्रह्मांड का स्वामी है, जो सब में व्यापक परमेश्वर है, वही हमारा कल्याणकारक है।

(२१) जो सबके ऊपर विराजमान सबसे बड़ा अनन्त बलयुक्त परमात्मा है, उसी ब्रह्म को हमें नमस्कार करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूज्य पूर्वज विद्वान और दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास किया है। वैसे ही हम सबों को करना योग्य है। ईश्वर ही हमें नाना प्रकार के क्लेश कर्मों से दूर करके कल्याणकारक मार्गों में लगावेगा, जो प्रलय के समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता, जिसके सब सत्य काम हैं और जिसकी प्राप्ति की कामना सब लोग करते हैं, जो सबमें व्यापक है, उसी को जानना योग्य है।

जिसमें सब आकाशादि भूत बसते हैं और जो सबमें वास कर रहा है, अतः उस परमेश्वर को जानना योग्य है। जो स्वयं बोध स्वरूप और जीवों के बोध का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर को बोध ही से जानिये। जो सब जगत के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से लेकर सब ऋषि मुनियों का पूज्य है, उस परमात्मा को भजिये। जैसे पूर्ण कृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे ही परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहते हैं।

(२२) जो सब प्रकृति के अवयव, आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ-साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, जो आनन्द-स्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं, और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्द-युक्त करता है, उसी की शरण जाइये। जिसका आकार कुछ भी नहीं है, और न कभी शरीर धारण करता है, जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होकर भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता। ईश्वर स्वयं देव है, उसका चित्त शक्ति-रूप देवी है, जो सब जगत के बनाने में समर्थ है, इसीलिये उस परमेश्वर का नाम शक्ति है।

जो सब चराचर जगत को दिखाता अर्थात् दृश्य बनाता जैसे शरीर के नेत्र, नासिका, और वृत्तों के पत्ते, पुष्प, फल, मूल, पृथ्वी, जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र, सूर्य बनाता तथा सबको दिखाता।

(२३) सब शोभाओं की शोभा है और जो वेदादि शास्त्रों से वह धार्मिक विद्वान योगियों को जानने योग्य है, जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपनी ही सामर्थ्य से सब काम पूरा करता है, इसलिये उस परमात्मा की शरण लीजिये।

(२४) छोड़ने वाले कर्मों को छोड़ता है, जगत और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर निर्गुण है, सर्वोत्तम, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, गुणयुक्त होने से सगुण कहलाता है। जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष रहे, उस परमात्मा का ध्यान कर, जो आपसे आपही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ इससे उस परमात्मा का नाम लीजिये। इसका यह अभिप्राय है कि जो पक्षपात रहित सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना ही कल्याणकारक है।

(२५) ईश्वर शक्तिमान है, जीव प्राप्तिवान है, इसलिये दोनों भिन्न हैं। ईश्वर त्रिकालदर्शी नहीं, उत्तम

जीवों को त्रिकालज्ञता से मोक्ष का आनन्द कराता है, मुक्त जीव स्वतंत्रतापूर्वक सर्वत्र जाते, घूम-घूम कर आनन्द लेते, संकल्पमात्र शरीर से जो चाहते सो करते।

(२६) ईश्वर और जीव दोनों चेतन-स्वरूप हैं, स्वभाव दोनों का पवित्र, दोनों अविनाशी और धार्मिक आदि हैं, परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्य का फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं और जीव के सनातन उत्पत्ति, पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। जैसे लोहा स्थूल अग्नि सूक्ष्म होती है इसी कारण से लोहे में अग्नि व्यापक होकर एक ही आकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल है और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से व्यापक और जीव व्यापी है।

(२७) राजा, प्रजा, पिता, पुत्रादि सम्बन्ध हैं, वैसे ही ईश्वर और जीव का सम्बन्ध है। जीव समाधिष्ठ परमेश्वर में प्रेम बुद्धि होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक हूँ, जो जीव परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव करता है, वही सहधर्म्म से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है, परन्तु स्वभाव दो हैं, दोनों भिन्न

भिन्न हैं, ब्रह्म जीव और जगत का कारण अनादि नित्य है, वही सत्य है। जब कल्पना का कर्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होती है।

(२८) स्मरण रहे कि यह जगत जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह परमात्मा अविनाशी है, इस अव्यय-तत्व का विनाश करने के लिये कोई भी सामर्थ्य नहीं है।

टान्डौजी }
२२-४-३७ } —ब्रह्मवास वंशीधर

———

ओ३म्

अथ बन्धक कर्म



ईश्वर की आज्ञा न मानना ही अधर्म है। जिस समय जीवात्मा बन्धन कर्म करना आरम्भ करती है उसी क्षण जीवात्मा के अन्दर से परमात्मा की ओर से भय, शंका, और लज्जा की उत्पत्ति होती है।

(३०) इस संसार में तीन प्रकार का दुःख है—

(१) जीवात्मा शरीर में अविद्या राग द्वेष मूर्खता से बन्धन हो जाता है।

(२) दुःख जो नाना प्रकार का पाप-कर्म करने से शत्रुता बढ़ाकर अहंकार वश होकर बन्धन को प्राप्त होता है।

(३) नाना प्रकार का कर्म करके इस ससार ही को अमृत तुल्य जानता है। फलाश कर्म करके इस जन्म-मरण चक्कर में घूमता रहता है।

(३१) संसारी पदार्थों का मन से ग्रहण करना ही बंधक होता है। जब दुष्ट कर्म करने वाला जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःख रूप फल पाता तब रोता है। भोजन के सिवाय चाहने वाला परमात्मा के उपदेश के सिवाय देने वाला, सदा भ्रमजाल में रह कर आप डूबता और दूसरों को डुबाता रहता है।

(३२) कर्म करने में जीव स्वतंत्र है, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पापों के फल को भोगता है, जो कोई मन-क्रम-बचन से पाप-पुण्य करता है वही भोगता है, जब तक आत्मा देह में रहता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़कर चला जाता है, तब यह गुण शरीर में नहीं रहता है। जिसके होने से जो हो और न होने से न हो वह गुण उसी के होते हैं। इससे जीव ही बंधक को प्राप्त होता है शरीर नहीं होता।

(३३) जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इसी वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है। ये चौबीस गुण प्राकृतिक हैं और अज्ञान जीवात्मा को बंधक करते हैं।

(३४) इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है, सत, रज, तम तीनों मिलकर

जो एक नाम प्रकृति है उससे बुद्धि और बुद्धि से अहंकार पाँच तन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन पाँच तत्व शरीर, चौबीस और पचीसवाँ जीव और छब्बीसवाँ साक्षी रूप परमेश्वर सर्वत्र व्यापक होकर रहता है।

(३५) प्रलय काल में परमात्मा को मुमुक्षी आत्माओं के सिवाय कोई देखने वाला नहीं है, रचना-काल में सर्वत्र व्यापी हो रहा है, देख नहीं पड़ता। भ्रम-जाल को छोड़ और ज्ञान को प्राप्त करके जानने की कोशिश करनी चाहिये।

(३६) जो ईश्वर को नहीं जानता अहंकारवश कर्म करता हुआ बंधन ही कमाता है, मैला रहना, मिथ्या बोलना, चोरी करना, अत्यन्त विषय सेवन, बिना शुद्ध कर्मों के और परमेश्वर की भक्ति के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता, पाप रूप कर्मों के फल भोग रूप बंधन में फँसाते हैं जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा कि हे परम पूज्य, धनयुक्त पुरुष यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवै वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है, सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास-स्थान है।

(३७) इसलिये यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीर सहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति नहीं होती, जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्ता भोक्ता नहीं है तो उसको अज्ञानी, अविवेकी जानिये, क्योंकि बिना जीव के जो यह सब जड़ पदार्थ हैं उनको सुख-दुःख का भोग व पाप-पुण्य कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ, इनके संबंध से जीव पाप-पुण्य का कर्ता और सुख-दुःख को भोगता है, जब इन्द्रियाँ और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे व बुरे कर्मों में लगाती हैं, तभी वह मूर्ख बंधन दुःख को भोगता है। पराया धन झूठा विश्वास देकर हरने वाला, विश्वासघात करने वाला, दगा से मारने वाला, पर-स्त्री-गमन करने वाला, चोरी आदि आसक्त कर्म करने वाला बंधक को प्राप्त होता है।

(३८) सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना चाहते हैं। परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा।

(३९) पाप के आधीन हो के परमात्मा की व्यवस्था से पापों को भोगना पड़ता है।

(४०) मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ, मध्यम और निकृष्ट स्वभावों को जानकर उसको मन, वाणी तथा शरीर से किये सुख-दुःख को भोगता है। क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्त अघ में चलाने से मनुष्य निश्चित दुःख को प्राप्त होता है, यह निश्चय है कि जैसे अग्नि ईंधन और घी डालने से प्रबल होती जाती है, वैसे ही कामों के उपभोगों से काम शांत कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये बंधक को प्राप्त होता है।

(४१) वेद विरुद्ध कर्मों का कर्ता मिथ्या भाषणादि युक्त जैसे हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जानता नहीं, औरों की कही मानता नहीं, अपनी ही कीर्ति को व्यर्थ बकने वाला, किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है उसी समय फल नहीं होता, इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते।

(४२) निश्चय जानिये कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूल को काटता ही चला जाता है। जब अधर्मी मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ जैसे तालाब के बाँध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही मिथ्या भाषण, कपट, पाखंड करने वाले और धर्म का खंडन विश्वासघाती कर्मों से पराये पदार्थ को लेकर प्रथम बढ़ता पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान,

वस्त्राभूषण, स्थान, मान प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है; वैसे ही अधर्मी भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

(४३) जो धर्म से प्राप्त हुये धन को तप रहित, विना पढ़े हुये, हृष्ट-पुष्ट होते हुये, माँग कर खाने वाले को देता है वह दान-दाता का नाश इस जन्म में और लेने वाले का नाश पूर्व जन्म का करता है।

(४४) जो दुष्टाचारी पुरुष हैं वे संसार में निंदा को प्राप्त दुःख के भागी व्याधि-युक्त होकर अल्पायु के भी भोगने वाले होते हैं। दुःख-सुख देने वाली मात्राएँ बाहरी सृष्टि के पदार्थों को इन्द्रियों से जो संयोग है उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है वह अनित्य अर्थात् नाशमान है।

(४५) फलाशय कर्मों में भूले हुये और यह कहने वाले मूढ़ लोग कि इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है, अनेक प्रकार के पुण्य धर्म से यह जन्म रूप फल मिलता है, इसी से उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, बंधन को प्राप्त होते हैं।

(४६) इस जगत में नाना प्रकार के कर्म-कांडों को देख कर अज्ञानियों की बुद्धि भ्रम रूप जाल में फँसी रहती

है, विषयों के चिंतन करने वाले पुरुषों का इन विषयों में सङ्ग बढ़ता जाता है, फिर इस सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम अर्थात् यह विषय चाहिये और इसकी तृप्ति होने में विघ्न होने से उस काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है, सम्मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रम से बुद्धि नाश और बुद्धि नाश से पुरुष का सर्वस्व नाश हो जाता है। उसे शांति नहीं, और जिसे शान्ति नहीं उसे सुख कहाँ से मिलेगा। विषयों में व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे पीछे मन जो जाने लगता है वही पुरुष के बुद्धि को ऐसे हरण किया करते हैं, जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है। इससे कर्म छोड़ना श्रेष्ठ नहीं, करना श्रेष्ठ है। लेकिन कर्मों में बंधक तत्व अशुद्ध बुद्धि के द्वारा होता है, उन कर्म बंधनों को शुद्ध बुद्धि से दूर कीजिये।

(४७) बंधन कर्मों में नहीं है, बुद्धि की अज्ञानता में है, जो मूढ़ हाथ व पैर आदि कर्म इन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिंतन किया करता है उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं और धर्म-रूपी कर्मों को छोड़ने से अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है।

(४८) पूजनीय योग्य पुरुषों को भोजन न देकर अपने आप ही बना कर खाने वाला पाप भक्षण करता

है। इस प्रकार जगत के धारणार्थ चलाये हुये कर्म या धर्म यज्ञ चक्र को जो इस जगत में आगे नहीं चलाता उसका आयु पापरूप है। परमार्थ कामों में न देकर स्वयं उपभोग करने वाले का जीवन व्यर्थ है।

(४६) सत, रज, तम गुणों द्वारा सब कर्म प्रकृति से हुआ करते हैं। अहंकार वश अज्ञानी पुरुष समझता है कि मैं करता हूँ। प्रकृति गुणों से बहके हुये लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त हैं, इससे नष्ट हो जाते हैं। सब प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति अनुसार कर्म करते हैं और जैसा करते हैं वैसा ही फल भोगते हैं।

(५०) प्राणियों को रजोगुण से होने वाले काम और क्रोध ही शत्रु हैं। प्राणियों के ज्ञान को इस तरह ढक रखा है जैसे धूम्र से अग्नि, धूल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ, और काम रूपी नित्य बैरी कभी भी तृप्त न होने वाला अग्नि है। इन्द्रिय मन और बुद्धि में रहता है। इन्हीं को जीत लीजिये, दृश्य पदार्थ से इन्द्रियाँ परे हैं। इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे जीवात्मा है। इसी को जानकर अपने-आपका रोक करके काम और क्रोध को जीत लीजिये, नहीं तो व्यर्थ जन्म बिताना है।

(५१) लोभ से जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है और अपने-पराये का जिसे ज्ञान नहीं है, इससे वह शीघ्र ही नष्ट होने वाला है। क्योंकि श्रेष्ठ कर्म न करने वाले को इस लोक में सफलता नहीं होती, तब उसे परलोक कहाँ से मिलेगा।

(५२) जिसे न स्वयं ज्ञान ही है और न श्रद्धा ही है, उस संशय-ग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संशय-ग्रस्त को न यह लोक है, और न परलोक। जो प्राणी आसक्त हो के काम से व वासना से फल के विषयों में शक्त होकर पाप से बन्धक हो जाता है। परमेश्वर प्राणियों के कर्म-फलों को प्राणियों के प्रकृति द्वारा लेनदेन कराया करता है। आप स्वयं नहीं छूता। कर्म जड़ है, जीवात्मा चैतन्य है। इससे प्राणी अपना उद्धार आप ही करे। अपना मित्र और अपना शत्रु आप ही है, और कोई दूसरा नहीं है। इस जगत के व्यवहारों से अन्य के लिये किये हुये उपकारों का बदला न चाह कर अपना कार्य स्वयं ही आरम्भ करके पूर्ण करने का प्रयत्न करे।

(५३) अधिक खाने वाला, अधिक जागने वाला, और अधिक सोने वाला, आसक्त से विषय भोग करने वाला सदा बन्धक में गिरा रहता है। माया ने जिनका

ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ़ और ष्कर्मी और नरा-धमी आसुरी बुद्धि में पड़कर नित्य-प्रति अधर्म ही करते हैं। इन्द्रियों की इच्छा और दोषों से उपजने वाले सुख-दुःख द्वन्दों के मोह से इस सृष्टि में समस्त प्राणी भ्रम में पड़े रहते हैं। परमेश्वर अपनी प्रकृति को हाथ में लेकर अपने-अपने कर्मों से बँधे हुये भूतों के इस समूचे समु-दाय को पुनि-पुनि जन्म दिया करते हैं कि जो उस प्रकृति के वश में रहने से परतन्त्र है।

(५४) दूसरे का धन चुराना, पर-स्त्री-गमन करना, दूसरे की निन्दा करना, दूसरे का सुख देख कर जलना, दूसरे की हानि चाहना, दूसरे दो प्राणियों को आपस में लड़ाकर नाश करा देना, अपनी बात को पूर्ण न करना, दूसरे को कह कर न देना और अपना कार्य छल-कपट से पूरा करना. अपने वचनों से दूसरों को दुखाना, बे प्रयोजन झूठ बोलना, दूसरे को सताना, दूसरे को डराकर मतलब निकालना, दूसरे को धोखे में मारना, दूसरे की सम्पत्ति में आग लगाना आदि अनेक बुरे कर्म करने वाला प्राणी मनुष्य-शरीर छोड़कर दुःखकारी शरीर को प्राप्त होता है।

(५५) प्राणियों को सुख-दुःख कर्मों से ही हुआ करता है। प्रकृति में रहने वाला मन और सूक्ष्म पाँच

इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेता है, इसको लिंग शरीर कहते हैं। तब वह जीव इस मन और पाँचों इन्द्रियों को वैसे ही साथ ले जाता है जैसे कि पुष्पादि आश्रयों से गंध को वायु ले जाती है। कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक, और मन में ठहर कर यह जीव विषयों को भोगता है। निकल जाने वाले, रहने वाले, अथवा गुणों से युक्त होकर उपभोग करने वालों को मूर्ख लोग नहीं जानते कि जीवात्मा बन्धक होकर भोग भोगता है।

(५६) अज्ञानी लोग नहीं जानते कि क्या करना और क्या न करना चाहिये। कहते हैं कि सारा जगत असत्य है अर्थात् निराधार है, बिना परमेश्वर का है अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है। मनुष्यों के विषय-वासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है। इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्प बुद्धि वाले नष्टात्मा दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुये जगत में क्षय के निमित्त उत्पन्न हुआ करते हैं। और कभी भी पूर्ण न होने वाले काम अर्थात् विषय-भोगों की इच्छा का आश्रय करके ये दंभ मान, और मद से व्याप्त होकर मोह के कारण झूठ-मूठ मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिये प्रवृत्त रहते हैं।

(५७) इसी प्रकार आमरणान्त सुख भोगने की

अगणित चिन्ताओं से ग्रस्त हुये कामोपभोगों में डूबे हुये और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व मानने वाले सैकड़ों आशा-पाशों से जकड़े हुये काम, क्रोध परायण ये सुख लूटने के लिये अन्याय से बहुत सा अर्थ सञ्चय करने की तृष्णा करते हैं। मैंने आज यह पा लिया, कल उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा, यह धन मेरे पास है, और फिर वह भी मेरा होगा, इस शत्रु को मैंने मार लिया, औरों को भी मारूँगा, मैं ही भोग करने वाला, मैं ही सुखी हूँ, और मेरे बराबर कोई नहीं है, मैं ही दान दूँगा, मौज करूँगा, अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुये, मोह के फंदे में फँसे हुये और विषय उपभोगों में आसक्त ये अपवित्र नरक में गिरते हैं।

(५८) आत्म-प्रशंसा करने वाले हठ से बर्तने वाले धन और मन के मोद से संयुक्त ये लोग शास्त्र-विधि छोड़ कर केवल नाम के लिये धर्म किया करते हैं, इस प्रकार जन्म २ में आसुरी योनियों को ही पाकर के ये मूर्ख लोग अधोगति को जा पहुँचते हैं।

(५९) काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। ये ही प्राणियों का नाश कर डालते हैं जो शास्त्र-विधि छोड़ कर मनमाना करने लगता है उसे न सिद्धि मिलती है और न सुख मिलता है, न उत्तम गति

ही मिलती है। इसलिये कार्य-अकार्य का निश्चय करने के लिये शास्त्र देखना चाहिये और इस जगत में ज्ञानी पुरुष किस तरह व्यवहार करता है, सो जान कर दुःख को छुड़ाइये।

टान्डौजी
२२-४-३७

—ब्रह्मवास वंशीधर

॥ ओ३म् श्रीपरमात्मने नमः ॥

"अथ मोक्षानन्द"

शेर

इस ज्ञान से परमात्मा ने,
इस जगत को उत्पन्न किया।
इस ज्ञान से ही आदि ऋषियों ने,
धर्म का उपदेश किया।
इस ज्ञान से ही किये कर्म,
दुःख से छुड़ा कर ईश्वर में किया।
इस ज्ञान से ही ज्ञानी पुरुषों ने,
मोक्ष का आनन्द किया।



सच्चे कर्मों का विचार करने वाला पुरुष शुद्ध स्थान पर एकान्त में रह कर चित्त और इन्द्रियों के व्यव-हारों को रोक कर इधर-उधर न देख कर निडर होकर शांत अंतः-करण से परमात्मा में चित्त लगावे, इस प्रकार नित्यप्रति उद्योग करने से चित्त शांति को प्राप्त होता है।

(६२) विचारों से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं को त्याग करे और मन से ही सब इन्द्रियों को चारों ओर से खींच कर बुद्धि से धीरे-धीरे शांत होता जावे और मन को आत्मा में स्थिर करके कोई भी विचार मन में न आने दे।

(६३) इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुये और स्थिर मन जहाँ-जहाँ बाहर जावे वहाँ-वहाँ से रोक कर उसको जीवात्मा ही के स्वाधीन करे। मन चंचल, हठीला, दृढ़ परन्तु बार-बार के रोकने से वश में आ जाता है और थोड़े से भी पुण्य-रूपी कर्मों का कभी नाश नहीं होता। दूसरे जन्म में श्रीमानों के घर में जन्म लेता है। अपने पूर्व जन्म के अभ्यास से ही अपनी इच्छा न रहने पर भी वह परम सिद्धि की ओर खिंच जाता है। हज़ारों मनुष्यों में से कोई-कोई इस सिद्धि को पाने का प्रयत्न करते हैं और प्रयत्न करने वाले अनेक सिद्ध पुरुषों में से एक आध को ही परमेश्वर का सच्चा ज्ञान हो जाता है।

(६४) इन सब में ब्रह्म भरा हुआ है। जल में रस, रूप, चंद्र सूर्य में प्रकाश, रूप, वेद-मन्त्रों में कल्याण-मार्ग, ओ३म् आकाश में शब्द, सब पुरुषों में पुरुषोत्तम, पृथ्वी में गंध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों की जीवन-शक्ति

और ज्ञानी पुरुषों में ज्ञान और विद्वानों का बोध, श्रीमानों में तेज, धर्म-रूपी पुरुषों का काम, इन नेत्रों से देखने वाले या न देखने वाले जगत में साक्षी रूप भरा है, और यह सब जगत ब्रह्म में भरा हुआ है, जैसे आकाश में सब कुछ बसा हुआ है और परमेश्वर न देखने वाली योग माया से रहता है।

(६५) इन फलयुक्त लोगों को न दिखाई देने से मूर्तिमान की पूजा करते हैं, परमेश्वर प्रकट नहीं दिखलाई देता है, इससे ये लोग नहीं जानते कि परमेश्वर अज और अव्यय है।

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७, श्लो० २०,२१,२२,२३,

(६६) श्लोकः—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्य देवताः।

तंतं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलांश्रद्धां तामेवविदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥

श्लोकार्थ :—(२०) अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न-भिन्न (स्वर्ग आदि फलों की) काम

वासनाओं से पागल हुये लोग भिन्न-भिन्न (उपासनाओं के) नियमों को पाल कर दूसरे देवताओं को भजते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है एवं उसको मेरे ही निर्माण किये हुये काम फल मिलते हैं। (२३) परन्तु (इन) अल्प बुद्धि लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान हैं (मोक्ष के समान स्थिर रहने वाले नहीं हैं) देवताओं को भजने वाले उनके पास जाते हैं और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते हैं।

(६७) जो प्राणी स्वार्थ-बुद्धि से अन्य देवताओं की पूजा करता है, उनकी भावनाओं की इच्छा परमेश्वर ही इस जन्म या पूर्व जन्म में पूरी करता है। मन्द-मति जन समझा करते हैं कि हमारे देवता प्रत्यक्ष हैं। यह नहीं समझते कि सर्वव्यापी परमेश्वर ही जीवों के कर्मों का फल दिया करते हैं।

(६८) जो प्राणी देवताओं की पूजा या भूखा रह कर फल चाहता है इस जन्म के लिये या दूसरे जन्म के लिये, उसकी तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती। जो स्वर्ग

आदि सुख के लिये कर्म करता है उसको अपना लोक छोड़ उस लोक में जन्म लेना पड़ता है, जो इन सब लोकों के ऊपर है, उसको स्वर्ग अर्थात् ब्रह्म-लोक की जो अनित्य या नाशवान है जिसमें सब लोकों से सुख की सामग्री ज़्यादा रहती है और अपने-अपने पुण्य को भोग करके पुनः लौट आते हैं और इसी ही स्वर्ग-लोक में कर्मयोगी आसानी से जाता है।

(६९) जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कर्म करता हुआ बिचल जाता है, लाखों वर्ष स्वर्ग में रहकर पुनः उत्तम कुल में जन्म लेकर नित्य सुख के लिये आगे बढ़कर प्राप्त करता है, जिसको पाके पुनि-पुनि जगत में आने का चक्कर लगा रहता है उसी को बन्द करके उसी ब्रह्म में रहता है, जिससे महाप्रलय तक लौटकर नहीं आता। इस सुख के तुल्य दूसरा सुख नहीं है, अखंडित सुखी ईश्वर ही रहता है, जीव नहीं रहता है।

(७०) इस व्याप्ति में डरा कर लेने वाला भूत, हानि पहुँचाने वाला राक्षस, छीनने वाला पिशाच कष्ट देकर लेने वाला निश्चर, अनासक्ति से फल की इच्छा करने वाला पितर कहलाता है।

(७१) प्रेमपूर्वक माता-पिता को ताज़ा भोजन

देना श्राद्ध और केवल भोजन ही चाहने वाला देव कहलाता है।

(७२) अव्याप्ति परमेश्वर ने इस व्याप्ति जगत को उत्पन्न किया है, इसी से व्याप्ति जगत की पूजा करना ही देव-पूजा कहलाती है, अनासक्त हो के सब व्यवहार कर, व्याप्ति को प्रेम से स्मरण कर, सब कर्म इसी को अर्पण कर और रङ्ग में रँगा रहना ही सच्ची देव-पूजा है।

(७३) आदिदेव भी रचना इन्हीं के सुख के लिये करता है और अव्याप्ति देव एक ही है। व्याप्त देव अनेक हैं। इसी को ही सगुण उपासना कहते हैं अर्थात् कर्मयोग कहलाता है। आदि अव्याप्ति और व्याप्ति देवों से प्रेम करने वाला दोनों एक ही स्थान में जाते हैं, किधर से भी हो, प्रेमी हो।

(७४) ईश्वर की रचना-काल में शरीर तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रकृति गुण सूक्ष्म जिसको लिङ्ग शरीर कहते हैं। स्वार्थ बुद्धि वाले प्राणियों को जकड़कर उनके कर्मानुसार दूसरे स्थूल शरीर में ले जाकर वीर्य द्वारा गर्भ में गिराता है। इसके पश्चात् अपने किये हुये अच्छे और बुरे कर्मों को भोगता है। इस लिङ्ग शरीर का नाश ब्रह्मलोक को जाने से भी नहीं होता, गर्भ में जाकर जन्म लेना ही पड़ता है।

(७५) इन सब भूगोलों में मृत्यु और जन्म हुआ ही करता है। इनमें मृत्यु का नियम भिन्न-भिन्न ईश्वराधीन है। जैसे इस लोक का बारह मास होता है देव-लोक का एक दिन होता है। इस हिसाब से देवों की उम्र एक हज़ार वर्षों की होती है और इस ब्रह्म-लोक में स्वर्ग की इच्छा करने वाले ही जाते हैं, लेकिन आवागमन से नहीं छूटते। पुनि-पुनि जन्म से छूटने के लिये निष्काम हो के ब्रह्मभूत होने वाला प्राणी लिङ्ग-शरीर को छोड़ ब्रह्म में जाके तीसरा सङ्कल्प मात्र शरीर से आनन्द करता है, वहाँ पर न तो सूर्य न चन्द्र न अग्नि ही प्रकाशित है, स्वयं ब्रह्म ही प्रकाश रूप है।

(७६) जो प्राणी इस लोक और परलोक के सुख-भोगों में बँधे रहते हैं उनको ईश्वर का ज्ञान नहीं होता। सत्य और धर्म से धन कमाने वाला नाना प्रकार से ईश्वर की पूजा करके स्वर्ग-लोक के प्राप्ति की इच्छा करता है। वह इन्द्र के पुण्य लोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगता है और उसी विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके पुण्य के क्षय हो जाने पर फिर वह जन्म लेकर मृत्यु-लोक में आता है। जो मनुष्य भक्ति-युक्त रहकर अर्थात् अच्छा कर्म करता हुआ इस आदि ब्रह्म में रङ्गकर ओ३म् का जप करता

हुआ देह छोड़कर जाता है, उसे पुनर्जन्म नहीं मिलता अर्थात् महाप्रलय तक नहीं आता।

(७७) यह संसार जो दुःख का घर है, उसमें अनेक ऐश्वर्य प्राप्त पुरुष को भी पुनर्जन्म लेना पड़ता है। आवागमन में घूमता रहता है। जो किसी से द्वेष नहीं करता है, सब प्राणियों से मित्रता से वर्तता, जो कृपालु है, ममता और अहंकार नहीं करता, जिसको पूरी दृढ़ता है ईश्वर में, उसको क्लेश नहीं होता। सब कर्मों को आलस्य रहित करता हुआ कर्मों में अनासक्त है, बाल-बच्चों में और गृहस्थी आदि में लंपट नहीं होना, प्राप्त और अप्राप्त में सम रहना और परमेश्वर में अपनी आत्मा को लगाये रखना, ब्रह्म को सब इन्द्रियों के गुणों का अभ्यास है, पर उसको कोई भी इन्द्रिय नहीं।

(७८) परमेश्वर में मन लगा कर युक्त चित्त होकर परम श्रद्धा से जो उपासना करता है, सब प्राणियों के हित में मग्न रहता है, इस प्रकार परमेश्वर में भली, भाँति चित्त को स्थिर करते न बनै तो अभ्यास से बार-म्बार प्रयत्न करके परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करे। अभ्यास करने में भी असमर्थ है, तो शास्त्रों में बतलाये हुये ज्ञान, ध्यान, भजन, जप करता चला जाय और निष्काम हो ले।

(७९) यज्ञोपवीत लेने वाले प्राणियों को गायत्री मंत्र पूजा के समय कम से कम एक घड़ी जपना चाहिये। इस मंत्र का पिता परमात्मा है, सदा शुद्ध चित्त से शुद्ध स्थान पर बैठ कर परमात्मा को अर्पण और फलाशय की अनिच्छा से जप करना चाहिये। दुःख को छोड़ परमात्मा को प्राप्त होगा।

"गायत्री मंत्र"

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ॥

(८०) स्त्री और शूद्रों के वास्ते नीचे लिखे मंत्र का जपना श्रेष्ठकारक है, इस मंत्र का स्वामी भी परमात्मा ही है, इसलिये स्त्री और शूद्र भी कम से कम एक घड़ी एकान्त में बैठकर इस मंत्र का जप करें और ईश्वर अर्पण करें दुःख छोड़ कर सुख को प्राप्त होंगे। मंत्र यह है :—

ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय ॥

(८१) जो प्राणी खाता, पीता, सोता, उठता, चलता, ठहरता, बोलता, देखता, सब ईश्वर अर्पण करता रहता है, वह अनेक जन्म के पश्चात् ईश्वर में मिल जाता है, जो स्त्री और शूद्र भी प्रातःकाल से लेकर शाम तक

अपने-अपने व्यवहार सचाई से करके ईश्वर को अर्पण करते हैं, वे दुःख को छोड़ सुख को प्राप्त होंगे।

(८२) गृहस्थाश्रमी प्राणियों को निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन करना अति आवश्यकीय है।

(१) धर्म उपदेश ऋषियों की सेवा शुश्रूषा करना।

(२) गुरुजनों की सेवा और उनका प्रबन्ध करना।

(३) बालक-बालिकाओं को शिक्षा देना।

(४) माता-पिता और परिवार की सेवा करना।

(५) अग्निहोत्र यज्ञ करना।

(६) क्षुधातुरों को भोजन देना।

(८३) जड़ पदार्थों में माया ब्रह्म दो हैं, जीव नहीं है। जो वृक्षों में जल संयोता, हीरे को चमक देता, लाल और पन्नों में विविध रङ्ग बनाता और सोने को पीला, चाँदी को सफ़ेद बनाता और पृथ्वी में नाना प्रकार की धतुओं को तैयार करता।

(८४) इस शरीर में स्थूल आत्मा और जीव में सूक्ष्म परमात्मा है। देखने वाले को दिखाने वाला, जानने वाले को जनाने वाला, प्राणों के साथ चलने वाले को चलाने वाला है।

(८५) सूर्य उत्तरायण मार्ग, चन्द्रमा प्रकाश मार्ग, अग्नि ज्योति-मार्ग यह उपमा ज्ञान-मार्गियों को दी गई

है । इससे ज्ञानी पुरुष ज्ञान के प्रकाश से ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

(८६) जो प्राणी कष्ट से, क्षुधा से, अज्ञानता से या परिश्रम और भय आदि क्लेशों से अपना घर त्याग कर योग लेता है, उसे न तो समाज फिरती मिलता है और न परमेश्वर का ज्ञान होता है । कष्टमय जीवन व्यतीत करता है, भोजनादि पराधीन हो जाता है । उस प्राणी का जन्म व्यर्थ चला जाता है और न घर का रहता है न घाट का रहता है । इससे अपने परिवार में रह कर सम बुद्धि से कर्म करे, गृहस्थाश्रम आनन्ददायी है ।

(८७) अज्ञान से इस माया में और ज्ञान से परमात्मा में आनन्द करता है जब जीव कर्ता ही है तो कभी कर्म छूटते ही नहीं, इससे बन्धक कर्मों में नहीं है । कारण कर्म जड़ है चेतन जीव के विचार-शक्ति में ही बन्धक है, इससे विचार-शक्ति को परमात्मा में लगाइये । उसकी शरण लीजिये । मोक्ष को प्राप्त कीजिये । अनासक्त शरीर से कर्म करना ही श्रेष्ठ है ।

(८८) वेदादि शास्त्रों का उपदेश कर्ता, भोजन-वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता, प्राणी मात्र में एक ही आत्मा को जानता है, उसी को आनन्द मिलता है, जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है । जो धारण

और प्रलय करता है, जो इस जगत का स्वामी है और जिसमें व्याप्त होकर यह सब जगत उत्पत्ति, स्थित, प्रलय को प्राप्त होता है, वह परमात्मा है, उसी को प्राप्त कीजिये।

(८९) यह सब जगत सृष्टि के पहिले ब्रह्ममय था, पश्चात् परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से कारण रूप प्रकृति से कार्य रूप कर दिया। अनादि सनातन जीव रूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है, उसी को जानकर आनन्द को प्राप्त कीजिये।

(९०) प्रकृति जीव परमात्मा ये तीनों जगत के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं है, सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत को मूलधर और स्थिति का स्थान है।

(९१) सब जगत सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, इसका अभाव नहीं होता है, इनको जानो और मानो। हे जीव ! ब्रह्म की उपासना कर। जिस ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति जीवन होती है। इस चेतन मात्र ब्रह्म रूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है, किन्तु यह सब पृथक-पृथक स्वरूप में परमेश्वर के आधार में रहते हैं।

(९२) इस जगत के कारण तीन हैं—(१) नयमित (२) उपादान (३) साधारण।

(१) नियमित कारण—परमात्मा इस जगत को बनाता है ।

(२) उपादान कारण—प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं ।

(३) साधारण कारण—जीव इस संसार से लेकर सामग्री विस्तार रूप करता है और प्रकृति जड़ होने से आप न बनती और न बिगड़ती है । जब प्रलय होती है तब परमेश्वर को मुक्त जीवों के सिवाय और कोई नहीं जानता ।

(९३) वर्तमान में भी जगत का अभाव मानना भ्रम है, जिसको परमात्मा नियम से बनाता, नियम से रखता और नियम से मिटाता है ।

(९४) इस वर्तमान जगत में जीव कर्म करके बन्धन और मोक्ष को प्राप्त होता है । बन्धन और मोक्ष प्रत्यक्ष देख रहे हैं । यह जगत है जब तक है, नहीं है तब नहीं है, वर्तमान में भी अभाव नहीं हो सकता, इससे मोक्ष की प्राप्ति कीजिये ।

(९५) जैसे सीप से चाँदी का और रस्सी से सर्प का भ्रम होता है, वैसे ही यह जगत है । इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि यह जगत बिल्कुल नहीं है (इसका यह अर्थ है) कि सीप में चाँदी नहीं है

वैसे ही इस जगत में नित्य पदार्थ नहीं हैं और रस्सी में सर्प नहीं रहता और रस्सी है, वैसे ही यह जगत है। इसीसे सीप में चाँदी नहीं वैसे ही इस जगत में नित्य वस्तु नहीं है, जैसे रस्सी में साँप काटने का भय नहीं वैसे ही इस जगत में अच्छा कर्म करने से भय नहीं होता है।

(९६) जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है। जैसा कर्म मनुष्य करता है वैसा ही फल ईश्वर देता है इससे श्रेष्ठ कर्म करके मोक्ष प्राप्ति कीजिये।

(९७) जो हमारे शास्त्रों में विरोधादि का बीजारोपण करते हैं वही उनकी भूल है। सब शास्त्र सच्चे हैं, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत का उपादान कारण है।

(९८) जब महाप्रलय होती है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्नि आदि का होता है, अग्नि आदि कर्मों से और जब अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल-कर्म से सृष्टि होती है अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ प्रलय होती है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति

होती है । इससे शास्त्रों में कुछ न्यूनता नहीं है, अपना-अपना भविष्य बता रहे हैं।

(९९) ईश्वर के इस रचित भूगोलों में जो अनेक ब्रह्मांड हैं, उसमें से एक ब्रह्मांड में हम लोग बसे हुये हैं। जो हम लोगों को दीख रहा है । इस ब्रह्मांड में अनेक चन्द्रमा हैं, जो अपने-अपने लोकों को प्रकाशित करके अन्य लोकों को भी प्रकाशमय कर रहे हैं।

(१००) सूर्य एक होकर भी इस ब्रह्मांड को सर्वत्र प्रकाशित कर रहा है। इस ब्रह्मांड में अनेक लोक हैं, जिसमें से कुछ दीखते हैं और कुछ अदर्श रहते हैं, और अपनी-अपनी मर्यादा के अन्दर घूमा करते हैं। लेकिन सूर्य-लोक के ऊपर के भाग का लोक नहीं घूमता।

(१०१) एक ब्रह्मांड में अनेक लोक हैं, एक लोक में अनेक द्वीप हैं, एक द्वीप में अनेक खंड हैं, एक खंड में अनेक राजा हैं, एक राजा के आधीन अनेक शहर हैं, एक शहर के नीचे अनेक गाँव हैं। इस प्रकार (मुजब) परमात्मा ने सब ब्रह्माण्डों की रचना करके उनको दूर-दूर रचे हैं, इससे उनका सम्बन्ध अलग-अलग है।

(१०२) जो एक ब्रह्मांड में अनेक लोक बसे हैं, उनका परस्पर सम्बन्ध लगा हुआ है। ये सब ब्रह्मांड अपने जीव-रूप सन्तानों के लिये रचे हैं। इनमें सर्वत्र

प्राणी बसते हैं और सर्वत्र वेदों का प्रचार और वैदिक धर्म है; और उनकी धारना, रचना, प्रलय ईश्वराधीन है।

(१०३) ये सब अनित्य हैं, नित्य नहीं, और इनका प्रलय अलग-अलग समय-समय में होता है। परन्तु महाप्रलय में कुछ भी नहीं रहता। सर्वत्र महाप्रलय होता है। केवल ईश्वर और मोक्षी जीव बचे रहते हैं। इसी से वैदिक धर्म के द्वारा समस्त प्राणी इस नित्य सुख की अभिलाषा करते हैं।

(१०४) प्राणी परमेश्वर में निमग्न होकर अपने इस शरीर को छोड़ संकल्प मात्र शरीर को लेकर स्वतन्त्रतापूर्वक उन सब ब्रह्माण्डों में घूम-घूम कर आनन्द करता, जहाँ जाना चाहता वहाँ जाता, सब ब्रह्माण्डों के रचनादि को जानता, अपने योग्य कार्यों को करता, परमानन्द आनन्द को भोगता हुआ अपनी मोक्ष का सुख लेता है।

(१०५) इस संसार में मोक्ष प्राप्ति के दो मार्ग हैं। पहला ब्रह्मचर्य धारण करके संन्यास व्रत को प्राप्त करने वाला योगाभ्यासी योगी संसार को कल्याण का मार्ग दिखाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है।

(१०६) अनासक्त कर्म करके पवित्र आत्म ज्ञान

को प्राप्त हो के कर्म त्याग संन्यास व्रत लेकर संसार को उपदेश करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

(१०७) दूसरा यह कि परमात्मा को कर्मों का फल अर्पण करके श्रद्धायुक्त भक्ति से कर्मों का फलाशय त्याग करके कर्म करता रहे। कर्म त्याग न करे। असत का त्याग, सत का धारण करने वाला कर्म करके भी अकर्ता रहता है। वेदादि कर्म-काण्ड निष्कामता से करके परमानन्द परमात्मा की प्राप्ति करता है।

(१०८) समस्त भूगोलों में आदि ऋषियों ने वेदों में परमात्मा की आज्ञा से दो धर्म-मार्गों का निर्माण किया है, पहला प्रवृत्ति अर्थात् जिसको कर्मकांड कहते हैं, उनको आसक्ति छोड़ कर सब व्यवहार कामना से भक्ति-युक्त होकर करने पड़ते हैं।

(१०९) दूसरा धर्म निवृत्ति है, जिसको ज्ञानकांड कहते हैं। निष्काम कर्म से ही समस्त व्यवहारों को कामना से कर परमानन्द परमात्मा को प्राप्त करना पड़ता है। परन्तु जब-जब कामना में आसक्ति आ जाती है, तब-तब यह सृष्टि-चक्कर ठीक-ठीक नहीं चलता, जब तो महापुरुषों को आके इस आसक्ति को दूर करते हैं।

(११०) जब निष्कामता बढ़ कर कामना का नाश हो जाता है, तब भी सृष्टि-चक्कर नहीं चलता, जब भी

महापुरुषों को आके निष्कामता को दूर करके कामना प्रवृत्ति मार्ग को चलाते हैं।

(१११) इसी से अधिक प्रवृत्ति से और ज़्यादा निवृत्ति से इस जगत का व्यवहार ठीक-ठीक नहीं चलता और इनमें माया द्वारा घटा-बढ़ी सदा से होती है।

(११२) बढ़े हुये मार्ग को घटाकर घटे हुये को बढ़ाना ही महापुरुषों का काम है और वेदों के पश्चात् जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें किसी में निवृत्ति मार्ग हैं तो किसी में प्रवृत्ति मार्ग है। इसी से दोनों मार्ग सच्चे हैं और दोनों से मोक्ष मिलती है।

(११३) वह (ईश्वर) इस जगत में—जैसे धागे में मनियाँ पिरोया रहता है, जैसे मनियों में धागा रहता है, वैसे ही ईश्वर में जगत है, और जगत में ईश्वर भरा हुआ है।

(११४) ईश्वर जगत को ऐसे ही बनाता है जैसे कपड़े की सामग्री सूत है, वैसे ही प्रकृति जगत की सामग्री है।

(११५) जैसे कपड़ा बनाने का हथियार है वैसे ही जीव जगत बनाने का साधारण हथियार है।

(११६) जैसे कारीगर कपड़ा बनाने में चतुर है, वैसे ही ईश्वर इस जगत को बनाने में सामर्थ्यवान है।

(११७) पृथ्वी के अन्दर अनेक तरह की धातु सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, आदि; आसमान में सूर्य, चन्द्र, हवा, जलादि ।

(११८) पृथ्वी पर अनेक तरह के फल-फूल, रङ्ग-बिरङ्गी कारीगरी करना, शरीर का गोलक बनाना, इन्द्रियों को रचना, मांस, हड्डी, नाड़ियों का बंधन इत्यादि ।

(११९) इस अद्भुत रचना को बिना ईश्वर के और कौन बना सकता है । इससे उस परमात्मा को जान कर कल्याण का रास्ता लीजिये ।

(१२०) अच्छा कर्म करना श्रेष्ठ है, छोड़ना ठीक नहीं है । जैसे दही से मक्खन निकल आता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धि द्वारा कर्मों के अन्दर से मोक्ष निकल आता है ।

(१२१) अनित्य वस्तुओं का होना नित्य, और नित्य का होना अनित्य कभी भी नहीं होता, इन दोनों का निर्णय तत्वदर्शी लोगों ने ज्ञात किया है । इससे आप लोग भी परमात्मा पर विश्वास तथा प्रेम रक्खें ।

(१२२) ईश्वर प्रकृति को पकड़ कर विराट रूप शरीर में इस जगत को विस्तारित करता है ।

(१२३) गले के ऊपरी भाग में देवलोक है, मस्तक में ब्रह्मलोक, ललाट में ध्रुव-लोक, नासिका के अन्दर वरुण लोक है। नेत्र, सूर्य, चन्द्रमा, कान, धर्म-लोक ; मुख अग्नि-लोक, भुजा यम-लोक, हृदय और उदर मध्य लोक, कमर के नीचे पाताल-लोक, पाताल लोक की पिण्डी में एक ईश्वर की शक्ति रूप धुर्रा लगा है, दूसरा धुर्रा देव-लोक में लगा है।

(१२४) माया-रूपी विराट शरीर में अनेक लोक-लोकान्तर बसे हैं। पाताल लोक, मध्य लोक, दोनों सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर घूमा करते हैं। जो-जो सूर्य के सामने आते हैं वहाँ-वहाँ दिन और जो-जो पीछे जाँय उस-उस में रात्रि हो जाया करती है।

(१२५) देव-लोक तथा ब्रह्म-लोक कभी भी नहीं घूमते। सूर्य और चन्द्रमा ही अपनी-अपनी अवधि में चक्कर काटते हैं। इन सबका स्वामी ईश्वर ही है, उसी की शरण जाइये।

(१२६) सत पुरुषों का सङ्ग, सत, असत, धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्यों का निश्चय कर पृथक पृथक जानिये। शरीर और जीव और परमात्मा का विचार कीजिये। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल बर्तता है वही मुक्ति जन सुख को प्राप्त करता है। निन्दा, स्तुति, हानि,

लाभ, कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़ मुक्ति-साधन में सदा लगे रहना चाहिये।

(१२७) जब कोई विद्वान उपदेश करे तो शान्ति से ध्यानपूर्वक सुनना। विशेष ब्रह्म-विद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये। क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। सुनकर एकान्त में बैठकर सुने हुये का विचार करना, जिस बात में शंका हो उसे पूछना। जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जाय तब ध्यानपूर्वक उस बात को देखना, समझना, कि वह जैसा सुना था विचारा था, वैसा ही है वा नहीं; उसी पुरुष को मोक्ष प्राप्त होती है।

(१२८) सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन राग-द्वेष रहित विद्वान लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्तव्य जानें वही धर्म माननीय और करणीय है, क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है।

(१२९) वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म यह सब कामना ही से सिद्ध होते हैं, जीवात्मा कभी निष्काम नहीं हो सकता।

(१३०) श्रुति वेद और स्मृति धर्म-शास्त्रों को कहते हैं, इनसे सब कर्तव्य अकर्तव्यों का निश्चय करना

चाहिये, जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल प्राप्त ग्रन्थों का अपमान करे, उसी को श्रेष्ठ लोग दंड दें। परन्तु जो द्रव्य के लोभ और काम अर्थात् विषय से उनमें फँसा हुआ नहीं होता उसी को धर्म का ज्ञान होता है।

(१३१) जो इन्द्रियाँ चित्त का हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त करती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करें। जैसे घोड़े को सारथी रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके धर्म-मार्ग में सदा चलाया करो।

(१३२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कर्तव्य कर्म में असत का त्याग और सत का ग्रहण करके सुख को प्राप्त करें।

(१३३) नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न पान, स्थान, सब शुद्ध रक्खें; क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल दुर्गन्ध दूर हो जाय।

(१३४) जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गाँजा, भाँग, अफ़ीम, विष्ठा, मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुये शाक फल मूलादि, जो-जो बुद्धि के नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करे। और जितने अन्न सड़े,

बिगड़े, दुर्गन्ध आदि से दूषित अच्छे प्रकार न बने हों और मद्य मांसाहारी म्लेच्छों के जिनका शरीर मद्य मांस के परमाणुओं से पूरित है उनके हाथ का न खावे, न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे और न किसी के भोजन से बचा आप खावो। न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ-मुँह धोए बिना कहीं इधर-उधर जावे।

(१३५) विद्वानों का यही काम है कि सत, असत का निर्णय करके सत का ग्रहण, असत का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं, वही गुण-ग्राहक पुरुष विद्वान होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं।

(१३६) विद्वानों और समाज का कर्तव्य है कि दुःखकारक प्रथा को हटाकर सुखकारक नियम और रिवाज को बढ़ावें।

(१३७) स्वर्ग नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

(१३८) नर्क नाम जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति न होने का है।

(१३९) जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, वैसे ही अपने करना, ईश्वर को सर्व-व्यापक अपने

को व्यापी जान के ईश्वर के समीप हो और आनन्द करो ।

(१४०) स्त्री और पुरुषों को चाहिये कि जैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करें, क्योंकि परलोक में न माता न पिता, न स्त्री न ज्ञाति सहायता कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है। देखिये अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है। एक धर्म का फल जो सुख और अधर्मों का जो दुःख रूप फल उसको भोगता है।

(१४१) यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगने वाले दोषों के भागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्ता ही दुःखों का भागी होता है। उसको मृत्यु बाद मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर सब चले जाते हैं, कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु धर्म ही उसका सङ्गी होता है। इससे धर्म करके ऐश्वर्य को प्राप्त कीजिये ।

(१४२) किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता है और जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्तव्य पाप दूर हो गया है उसको प्रकाश रूप परमात्मा को

धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है, इसलिए प्राप्त करो, आनन्द भोगो।

(१४३) जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते। वैसे गृहस्थी हो के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं, बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

(१४४) जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रति दिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थाश्रम ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इसीलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहस्थाश्रम को धारण करे।

(१४५) जो गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य हैं, उसको अच्छे प्रकार धारण करें, इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते।

(१४६) जो कोई गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंस-

नीय है। परन्तु गृहस्थाश्रम में तभी सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसी में मोक्ष फल लगता है। निष्काम कर्म करके परमानन्द को प्राप्त करो।

(१४७) ईश्वर है सही, अति सूक्ष्म है। अति सूक्ष्म है, तब तो सूक्ष्म जीवों में जा सकता है, सूक्ष्म जीवों में जा सकता है, तब तो यह जगत है। शरीर नेत्रों से दीखेगा तो इस जगत को कौन बनावेगा, न शरीर आप से आप बनता न जीव अपनी इच्छा से शरीर में प्रवेश कर सकता, ईश्वर ही उनके अन्दर हो के कर्मानुसार प्रवेश कराता है, इसी से ज्ञानी पुरुषों को ज्ञान नेत्रों से प्रत्यक्ष होता है।

(१४८) न तो मोक्ष नाना प्रकार के वस्त्रों में है, न भाँति-भाँति के चिह्नों में, न निज धाम को छोड़ दूर-दूर के धामों में है।

(१४९) मूर्तिमान अव्याप्ति से व्याप्ति जगत की पूजा श्रेष्ठ है। लड़के और लड़कियों की पाठशाला, औषधालय, अनाथ भोजनालय, धार्मिक विद्वानों द्वारा स्थापित करे।

(१५०) अपनी आत्मा में ही मोक्ष और मोक्ष का स्वामी ज्ञान से जानने योग्य है। प्राणि मात्र का

कल्याण धर्म से ही होता है, सृष्टि का व्यवहार भी धर्म से ही कल्याणकारी है।

(१५१) पूजनीय माता-पिता, गुरू आदि को भोजन देकर जो बचा हुआ भोजन करता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

(१५२) जो मनुष्य केवल अपने ही में रत, अपने ही में तृप्त और अपने ही में सन्तुष्ट हो जाता है उसके लिये कुछ भी कार्य शेष नहीं रहता।

(१५३) इस जगत् में कोई काम करने या न करने से भी वह लाभ नहीं चाहता और सब प्राणियों में उसका कुछ भी निजी मतलब अटका नहीं रहता, जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोई भी अपेक्षा नहीं रखता, तब आसक्ति को छोड़ कर अपना कर्तव्य-कर्म सदैव किया करता है, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाले मनुष्यों को परम-गति प्राप्त होती है।

(१५४) प्राचीन काल के राज-ऋषियों ने भी तो कर्म करके सिद्धि प्राप्त की है। इससे लोक-संग्रह पर दृष्टि देकर कर्म करना ही श्रेष्ठ है, छोड़ना नहीं।

(१५५) जो विद्वान पुरुष आगे होकर करता है उसी के पीछे-पीछे और भी चला करते हैं। लोक-संग्रह की इच्छा करने वाले ज्ञानी पुरुषों को आसक्ति छोड़ कर

उसी प्रकार बर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि व्यवहारिक कर्मों में आसक्त अज्ञानी लोग बर्ताव करते हैं।

(१५६) कर्मों में आसक्ति अज्ञानियों की बुद्धि में ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे, आप स्वयं चतुरता से सभी काम करे और लोगों से खुशी से करावे।

(१५७) जो ज्ञानी पुरुष सदा परमात्मा में विश्वास करके दोषों को न ढूँढ़ कर वेदानुसार बर्ताव करता है, वह कर्म-बन्धन से सदा मुक्त रहता है।

(१५८) ब्राह्मण उपदेश करता, क्षत्रिय राज्य करता, वैश्य व्यापार करता, शूद्र सेवा करता, अपने-अपने धर्म में बर्तने से मृत्यु हो जाय तो भी कल्याण-कारी है, इससे विपरीत चलना भयङ्कर होता है।

(१५९) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इस प्रकार चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्मों के भेदों से परमात्मा ने निर्माण किया है।

(१६०) ईश्वर गुण और कर्म निर्माण करता है। उन गुणों को ईश्वर स्वयं नहीं करता, श्रेष्ठ पुरुषों का कर्तव्य है कि धर्म और धन को छीनने वाले दुष्टों को जीतकर अपने आधीन रक्खे, जैसे सृष्टि चक्कर परमात्मा चलाता है, इसी तरह प्राणी नाना प्रकार के धर्म-कर्मों से इस सृष्टि-चक्कर को चलावे, उसी को ब्रह्म मिलता है।

यह सब जगत और जगत की सामग्री उसी ब्रह्म में है और इन सब में वह ब्रह्म भरा हुआ है ।

(१६१) विद्वान लोग अपने ही मन से सब इन्द्रियों के विषयों को जला डालते हैं । और कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब व्यवहारों को ज्ञान से परमात्मा में ही लगाया करते हैं ।

(१६२) कर्मों का विचार करना कठिन है । बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाया करता है कि किन कर्मों को करना पाप है और किन कर्मों के करने में धर्म है । इसलिये मन बुद्धि से कर्मों के पाप पुण्यों को अलग छाँट कर अच्छा कर्म करने वाला परमगति पाता है । कर्मों की सिद्धि या असिद्धि को एकसा मानने वाला पुरुष कर्म करके भी उनके पाप पुण्यों से बन्ध नहीं होता ।

(१६३) निष्काम जो प्राणी धर्म और कर्म को करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और द्रव्यमय धर्म से ज्ञानमय धर्म श्रेष्ठ है । जीवात्मा का ज्ञान से ही कल्याण होता है । इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है । काल पाकर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है ।

(१६४) जिसका योग अर्थात् कर्म-योग सिद्ध हो

गया है और जो श्रद्धावान पुरुष इन्द्रिय संयम करके उसके पीछे पड़ा रहे उसे भी यह ज्ञान मिल जाता है और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे शान्ति प्राप्त होती है।

(१६५) उस आत्म-ज्ञानी पुरुष को कर्म बन्धन नहीं कर सकते जिसने कर्म-योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्म-बन्धन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके सब सन्देह दूर हो गये हैं; उसी को ब्रह्म प्राप्त होता है।

(१६६) जो पुण्यात्मा योगी इस दृश्य-ब्रह्म को नहीं चाहता, वह उस लिङ्ग शरीर को छोड़ अपने में अदृश्य ब्रह्म रहता है, उसी के शरीर में निवास कर लेता है और अनेक कल्पों तक लौट कर इस लिङ्ग शरीर में नहीं आता, जो दुःख का घर है।

(१६७) ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों को भिन्न-भिन्न जान कर उनके स्वभावों को यथावत जानते हुये इस जगत के व्यवहारों को वर्तमान को वर्तमान मान कर अपनी आत्मा में परमात्मा किस तरह रहता है और रहकर भी निर्विकार कैसे बना रहता है इन बातों को अच्छी तरह समझकर अपनी जीवात्मा में पोले जैसे धागे में मनिया पोया रहता है।

(१६८) इन सब विषयों को जीवात्मा जब तक

अपने अंतःकरण से नहीं लेता, तब तक यह बात समझ में नहीं आती कि मेरे में परमात्मा किस तरह निर्विकार रहता है।

(१६९) इस शरीर के अंतःकरण के परे जो आत्मा अंतःकरण है, उसी में परमात्मा को शुद्ध आत्मा से देख अपनी आत्मा में ही परमात्मा को देखेगा और देखकर उस परमात्मा को ही सर्वत्र देखेगा और शरीर छोड़ने के पश्चात् उस परमात्मा के समस्त व्यवहारों को अच्छी तरह देखकर अपने योग-बल से जानकर बर्ताव करेगा।

(१७०) जब जीवात्मा दृश्य जगत को छोड़ योगी योगाभ्यास से परमात्मा को अपनी आत्मा में जान लेता है तब दृश्य जगत के व्यवहारों को छोड़ अपनी आत्मा में ही परमात्मा का बिहार करता है, जीवनमुक्त होकर ब्रह्मभूत हो जाता है।

(१७१) इस शरीर के छोड़ने के पश्चात् सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त करके सङ्कल्प मात्र शरीर से त्रिकालज्ञता दर्शिता को प्राप्त होता है।

(१७२) होने वाला और कराने वाला दो होते हैं, इससे ईश्वर और जीव एक नहीं होते, सदा से दो हैं और आगे सदा दो रहेंगे।

(१७३) प्राप्त वस्तु और प्राप्त कराने वाला प्रत्यक्ष में भी दो ही मालूम होते हैं। जब परमात्मा भी प्रलय काल में रहता है और जगत को रचकर सर्वव्यापी होकर सब कुछ जानता है तो क्या जीवात्मा मुक्ति को पाकर आनन्द की इच्छा को छोड़ देवेगा, जो ज्ञान-काल में अनुभव होता है। इससे जीव मुक्ति में भी बना रहता है।

(१७४) जीव का नाश नहीं, मुक्ति का आनन्द भोग कर कल्पान्तरों के पश्चात् इस संकल्प मात्र शरीर को छोड़कर स्थूल शरीर को प्राप्त होता है।

(१७५) जो वैदिक यथार्थ आज्ञा है उसी को जान कर आचरण करना, सच बोलना, सच मानना, सच ही का व्यवहार करना, ईश्वर की आज्ञा पालन करना ही धर्म है। आनन्द और उत्साह और शान्ति की प्राप्ति हो उसी कर्म को करना चाहिए, अवश्य आनन्द प्राप्त होगा।

(१७६) इस संसार में निष्काम कर्म करना ही जीव का असली कर्तव्य है, जीव जिसका मन से ध्यान करता है, उसी को वाणी से बुलाता है उसी से प्रेम करता है, जिससे प्रेम करता है उसी को प्राप्त होता है।

(१७७) जीव का असली स्वभाव यही है कि कुछ न कुछ इस रचित ब्रह्मांड में करता ही रहता है।

(१७८) जब प्राणी को अपने अनुभव में शङ्का होती है, उसी क्षण में उसकी बुद्धि शेर के तुल्य दौड़ कर सच्ची बातों का प्रमाण सामने रख देती है। इससे इन श्लोकों को ढूँढ़कर आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ। मोक्ष में जीव का नाश नहीं होता, बना रहता है।

(१७९) श्लोक :—

यदा पञ्चावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुहु परमां गतिम् ॥

—कंठो० अ० २। व० ६। मं० १० ॥

अर्थः —यह उपनिषद् का बचन है, जब शुद्ध मन युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परम गति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

(१८०) श्लोक :—

द्वादशाह वदुभय विधम् वादरायणोऽतः ॥

—वेदान्त द० ४। ४। १२ ॥

अर्थ :—व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं, अर्थात् शुद्ध सामर्थ्य-युक्त जीव मुक्ति में बना रहता है, अपवित्रता, पापाचरण, दुःख, अज्ञानादि का अभाव मुक्ति में मानते हैं।

(१८१) श्लोक :—अभावं वादरि राह ह्येवं ॥

—वेदान्त द० ४ । १० ॥

अर्थ :—जो वादरि व्यास जी का पिता है वह मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानता है अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते। वैसे ही—

(१८२) श्लोक :—भावं जैमिनिर्विकल्प मननात् ॥

—वेदान्त द० ४। ४। ११॥

अर्थः—और जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियों और प्राणादि को भी विद्यमान मानते हैं, अभाव नहीं ।

(१८३) विचार :—जब हमारे ऋषि मुनि वेदादि के जानने वाले इस बात का प्रमाण दे रहे हैं और अनपढ़ अज्ञानी को सूक्ष्म बातों का अपनी बुद्धि द्वारा ज्ञान होता है, तो प्रत्येक प्राणी को अपना कर्म फलाश त्याग करके आनन्दमय आनन्द को प्राप्त करना चाहिये ।

(१८४) ईश्वर शक्ति रूप और त्रिकालज्ञता को प्राप्तवान नहीं, बल्कि इनका जन्मदाता है, अर्थात् ये ईश्वर से उपजने वाले हैं, इससे ईश्वर इनका रूप नहीं, मोक्षी जीवों को शक्ति और त्रिकालज्ञता से आनन्द कराता है ।

(१८५) श्लोक :—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्यायात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म मायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

—गीता, अध्याय ४

अर्थः—देखो अर्जुन से श्रीकृष्ण भगवान साफ़-साफ़ कहते हैं कि हे अर्जुन मेरा और तेरा अनेक जन्म हो चुका है। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। कारण तू बन्धक शरीर में है, मैं सब प्राणियों का स्वामी अबन्धक हूँ। मेरी आत्मा में कभी विकार नहीं होता। मैं अपनी शक्ति से इस शरीर में संकल्प मात्र रहता हूँ॥ ५,६ ॥

जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब तब मैं स्वयं इस शरीर में संकल्प मात्र से आया करता हूँ ॥ ७ ॥

विद्वानों की रक्षा, दुष्टों का नाश करने के लिये युग-युग में धर्म की स्थापना के अर्थ में इस लोक में शक्ति रूप हूँ। जो इस प्रकार का आनन्दमय आनन्द चाहता है वह ज्ञानी पुरुष देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझसे आ मिलता है ॥ ८ ॥

(१८६) इस जगत की संतति ईश्वराधीन और प्राणी नियमित हैं, जावै या रहवै, ज्ञानी पुरुष उनका शोच नहीं करता है। देखो न ऐसा तो हो नहीं सकता, पहिले कभी न था, और ऐसा भी नहीं हो सकता कि यह आगे न होगा।

(१८७) जिस प्रकार देह धारण करने वाले को इस देह में बालापन, यौवन और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार आगे दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। इस विषय में ज्ञानी पुरुषों को दुःख नहीं होता।

(१८८) सुख और दुःख को समान मानने वाला जिस ज्ञानी पुरुष को उनकी व्यथा नहीं होती वही अमृत ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

(१८९) अनित्य का स्वभाव अनित्य और नित्य का स्वभाव नित्य है। तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों ने दोनों का अन्त देख कर उनके स्वरूप का निर्णय किया है।

(१९०) शरीर का स्वामी जीवात्मा नित्य अविनाशी और अचिन्त्य है। उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशमान अर्थात् अनित्य हैं। शरीर के स्वामी जीवात्मा को ही जो मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह आत्मा न तो मरता है न मारा ही जाता है। यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है।

(१९१) ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होके फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। यदि शरीर का बध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता।

(१९२) जिसने जान लिया कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसी को कैसे मरवावेगा और किसी को कैसे मारेगा।

(१९३) जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देह अर्थात् शरीर का स्वामी जीव पुराना शरीर त्याग कर दूसरा नवीन शरीर धारण करता है।

(१९४) इस जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसे आग जला नहीं सकती, वैसे ही इसे पानी गला नहीं

सकता और वायु भी सुखा नहीं सकती। कभी भी न कटने वाला न जलने वाला न भीगने वाला न सूखने वाला यह आत्मा नित्य स्थिर, अचल और सनातन है। अर्थात् जो इन्द्रियों को गोचर नहीं हो सकता, अर्थात् जो मन से भी जाना नहीं जा सकता, अर्थात् जिसे किसी भी विकार की उपाधि नहीं, इस प्रकार का समझ कर उसका शोक नहीं करता।

(१९५) सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त, मरते समय में फिर अव्यक्त होते हैं। ऐसी यदि सभी की स्थिति है तो उसमें शोक किस बात का समझता है, मानो कितने तो आश्रय समझ कर इस जीवात्मा की ओर देखता, कोई वर्णन करता, लेकिन किसी के जानने में नहीं आता।

(१९६) सब शरीरों में रहने वाले जीव का कभी भी नाश नहीं होता, इसलिये ज्ञानी पुरुष शोक नहीं करता। इससे ज्ञानी पुरुष अपने स्वधर्म में ही वर्ताव करते हैं, इस ज्ञान-मार्ग को ही प्राप्त करके ज्ञानी लोग इस लोक को जीत लेते हैं और इस ज्ञान-मार्ग में एक बार प्राप्त हो जाता है वह फिर पीछे नहीं हटता।

(१९७) सब दुःख-सुख, नफा-नुक़सान को एक समान जान कर अपने कर्तव्य कर्म में लगा रहता है,

वह ही ब्रह्म को प्राप्त होता है और ज्ञानी पुरुष कर्म न छोड़ कर भी निष्काम कर्म करता रहता है। इस निष्काम में एक बार कर्म किये हुये कर्मों का आचरण बड़े भय से संरक्षण करता है।

(१९८) इस मार्ग में विचार कर करने वाली बुद्धि से कार्य और अकार्य का निश्चय करने वाले को बुद्धि एकाग्र रखनी पड़ती है, इससे ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि निष्काम होके आनन्द को भोगें। चारों ओर पानी ही पानी हो जाने से कूप की ज़रूरत नहीं रहती, उतना ही प्रयोजन ज्ञान प्राप्त योगी को रहता है।

(१९९) कर्म करना ही जीव मात्र का अधिकार है, फल ईश्वराधीन है। इसलिये कर्म को कीजिये, कर्मों की सिद्धी हो या असिद्धी, दोनों को समान ही मान कर शुद्ध बुद्धि की शरण में जाओ। वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है, ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करता है। वह जन्म के बन्धनों से मुक्त होकर परमेश्वर के पद को जा पहुँचता है।

(२००) जब कोई मनुष्य अपने मन की समस्त वासनाओं को छोड़ता है और अपने आप में ही संतुष्ट होकर रहता है, वह ही मोक्ष फल पाता है। दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसको आसक्ति

नहीं और प्रीति, भय, क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसी को आनन्द मिलता है।

(२०१) सब बातों में जिसका मन निर्भय हो गया और यथा प्राप्त शुभ अशुभों का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं, वह ही परमानन्द को प्राप्त होता है।

(२०२) निराहारी पुरुषों के विषय छूट जावें तो भी उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु ज्ञान का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है अर्थात् विषय और चाह उनके दोनों छूट जाते हैं।

(२०३) इस प्रकार जिसकी इन्द्रियें अपने स्वाधीन हो जाँय कहना चाहिये कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई। परन्तु अपनी आतमा अर्थात् अंतःकरण जिसके वश में है, वह पुरुष प्रीति और द्वेष से छुटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी चित्त से प्रसन्न रहता है।

(२०४) जिन विषयों में लोग जागते हैं उन्हीं में ज्ञानी सोता है और जिसमें ज्ञानी जागता है उसमें सब लोग सोते हैं।

(२०५) मोक्ष की इच्छा करने वाले प्राणियों को निराकार परमात्मा के गुणों को अच्छी तरह जानकर वर्णन करता हुआ एकान्त में बैठकर ईश्वर से बिनती-

पूर्वक प्रेम और उनके गुणों का वर्णन कर अपने गुण कर्म स्वभावों को ईश्वर के सदृश करे। उसके पश्चात् निराकार ईश्वर को शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष जानकर उसी में लीन रहता है। जब तक ऐसा नहीं करता तब तक इधर-उधर भटकता ही रहता है।

(२०६) गृहस्थी कोई भी हो, पुण्य के द्रव्य से गृहस्थ चलाना दुःखकारक होता है। गृहस्थ-आश्रम तो पुरुषार्थ द्वारा ही शुभ धन से सुखकारी है।

(२०७) अनेक जन्मों के पुण्यार्थ कर्मों से जो फल प्राप्त होता है, उसको पुस्तक द्वारा जगत के लाभार्थ बतलाया जाता है।

(२०८) जिस ज्ञानी पुरुष को चारों ओर से दुःख सुख घेरने से भी जिसकी मर्यादा नहीं घटती उसे ही सच्ची शान्ति मिलती है। ब्रह्म-प्राप्ति यही है, इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता, और अन्त काल में मरण समय भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्म-निवारण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है।

(२०९) जो किसी से भी बैर नहीं करता और अपने लिये कुछ इच्छा नहीं करता, ऐसे पुरुषों को कर्म करने पर भी नित्य त्यागी समझना चाहिये।

(२१०) ज्ञानी पुरुषों को समझना चाहिये कि मैं कुछ नहीं करता। देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने में, और छोड़ने में ऐसी बुद्धि रक्खें कि इन्द्रियाँ अपना-अपना काम कर रही हैं।

(२११) जो आसक्ति छोड़ कर कर्म करता है उसको यह पाप नहीं लगता है जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता है। जिस विद्वान के अन्तःकरण में परमार्थ तत्व जम जाता है, वही सूर्य के समान कर्तव्य कर्मों को जान लेता है।

(२१२) उनकी बुद्धि में गाय, ब्राह्मण, कुत्ता, चाण्डाल सब प्राणियों में एक ही आत्मा जानकर किसी से द्वेष नहीं करता, मरने की प्रतीक्षा न कर मृत्यु-लोक को जीत लेता है।

(२१३) जो विद्वान अच्छे और खराब में सम हो गया है और मोह में नहीं फँसता उसी को आस-पास या सन्मुख रखा हुआ सा बैठे बिठाये मोक्ष मिल जाता है।

(२१४) श्रीकृष्ण भगवान भगवद्गीता के अध्याय ६ और श्लोक १ व २ में कहते हैं कि—

(१) अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥

(२) यं संन्यास मिति प्राहुर्योगंतं विद्धि पाण्डव ।
न ह्य संन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥

अर्थ—फलाश छोड़ कर कर्म करने वाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये, कर्म छोड़ने वाले को नहीं ॥१॥

कर्मफल का आश्रय न करके अर्थात् मन में फलाश को न टिकने देकर जो शास्त्रानुसार अपने विहित कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्निर अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देने वाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठने वाला सच्चा संन्यासी और योगी नहीं है ॥२॥

हे पाण्डव जिसे संन्यास कहते हैं, उसीको कर्मयोग समझो, क्योंकि संकल्प अर्थात् काम बुद्धि रूप फलाश का संन्यास (त्याग) किये बिना कोई भी कर्मयोगी नहीं होता ।

(२१५) (विचार) इससे जङ्गल-जङ्गल मारे-मारे न फिर कर एकान्त स्थान में रह के अपने लिये न

सही, लेकिन दूसरों के लिये आसक्ति छोड़ कर्म करने में कुछ भय नहीं है।

(२१६) जो ज्ञानी पुरुष मान-अपमान, दुख-सुख, हानि-लाभ से और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हो गया हो और ब्रह्मभूत रहे और सोना पत्थर एक समान जानने लगे और मित्र शत्रु के विषय में जिनकी बुद्धि में भेद-भाव नहीं, व्यवहारिक और परमार्थ दोनों कर्मों में समान बर्तता रहे उसी को परमगति मिलती है।

(२१७) जिस ब्रह्मज्ञानी का चित्त एक स्थान में रम जाता है, परमात्मा को देखकर अपनी आत्मा उसी में लगा देता है। इस आनन्द का अनुभव उसी को होता है जो परमात्मा को सब स्थानों में और अपनी आत्मा में देखने लगता है। उससे परमात्मा कभी बिछुड़ नहीं सकता, न जीवात्मा छोड़ता है।

(२१८) जो जीवात्मा अपने लिये नहीं प्रकृति-कर्मों को अव्यक्त के लिये अर्थात् परमात्मा के लिये फलाश त्याग अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों में बर्तता है, कर्मों का त्याग नहीं करता, अपने फलाश त्याग से कर्म करता ही रहता है वह उसी परमात्मा को प्राप्त होता है जो अपनी स्मरण-शक्ति को प्रलय में भी नहीं भूलता।

(२१६) इस माया में ईश्वर भी व्यवहार करता हुआ बन्धन नहीं होता, इससे ज्ञानी पुरुष भी इस माया से कर्म छोड़कर बाहर भाग नहीं सकता। इस माया में ही खाना, पीना, सोना, साँस लेना, उठना, बैठना, आदि सभी कर्म करना पड़ता है, इसी से फलाश त्याग कर्म करना श्रेष्ठ है। इसलिये कर्म त्याग योगी को इस वर्तमान समय में कष्ट होता है।

(२२०) जीव जब मोक्ष को प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त होकर, भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों को मोक्ष की अवधि तक जानकर स्वतन्त्रता से रहता है तब ईश्वर और मुक्त जीव में किञ्चित् मात्र ही भेद रह जाता है। मुक्त जीव आनन्द लेता और छोड़ता है। ईश्वर न लेता और न छोड़ता है, सदा आनन्द में रहता है।

(२२१) ईश्वर में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमान गुण अधिक रहते हैं। इससे ईश्वर सर्वोत्तम कहलाता है। इससे उत्तम समझ कर ही मान, ज्ञान, ध्यान कर मोक्ष को पा।

(२२२) जो मनुष्य विद्या से स्वरूप को जानता, कर्म करके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता, अपने योग-बल से देवों का शरीर संकल्प मात्र धारण करता है, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।

(२२३) जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, सङ्कल्प-विकल्प करने से मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्त का आनन्द लेता है ।

(२२४) वह मुक्त जीव मुक्त में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग कर पुनि महाकल्पों के पश्चात् मुक्त सुख को छोड़कर संसार में आता है, इसकी संख्या यह है कि ४३२०००० वर्षों की एक चतुर्युगी, २००० चतुर्युगियों का एक प्रलय, ऐसे-ऐसे तीस प्रलयों का एक महीना, और ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे सौ वर्षों का एक महाप्रलय होता है । मुक्त में इतने दिन आनन्द करता है, क्योंकि जब तक ३६००० हज़ार बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीव को मुक्त के आनन्द में रहना, दुःख का न होना कितनी बड़ी बात है ।

(२२५) आज जन्मते फिर मरते फिर जन्मते फिर मरते अर्थात् एक चतुर्युगी में बंध आत्मा को नाना बार आना और जाना होता है । २००० चतुर्युगियों का मोक्षी पुरुष का एक दिन होता है,

कितना आनन्दमय आनन्द है। ३६००० दिनों का एक महाप्रलय, सर्वोत्तम परमात्मा की एक नित्य हुई। यह नित्य सदा होती है, इससे परमात्मा का नाम नित्य है। इस नित्य का स्वामी नित्य है और नित्य रहेगा। इससे परमात्मा को प्राप्त करने का उद्योग कीजिये।

(२२६) जो प्राणी इस जगत के व्यवहारों को यथावत जान कर भाव का भाव और अभावों को अभावों में वर्तता है उसी क्षण अनपढ़ प्राणी को भी उसकी बुद्धि में ज्ञान के प्रकाश से वेदों की यथार्थ बातों को जान लेता है और देह त्याग कर ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म चित्त को प्राप्त होता है।

(२२७) जिस चित्त से ब्रह्म सब जगत को बनाता और मिटाता है, उसी ही चित्त शक्ति को लेकर मोक्ष जीवात्मा सङ्कल्प मात्र से भूत, वर्तमान, भविष्य अपनी अवधि तक जानता है। सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान इन दोनों शक्तियों को छोड़ कर और जो बचा है सो निर्मलता से कर सकता है।

(२२८) ईश्वर और मोक्षी जीवों में किञ्चित मात्र भेद रहता है, जीव का मोक्ष में नाश नहीं होता, बना रहता है।

(२२९) जिस योगी को जहाँ तक का ज्ञान होता है वह वहाँ तक का अपने इतिहासों में बताता है, इससे विद्वान लोग उनकी बातों को इतिहासों से अवलोकन करके जान लेते हैं कि अमुक योगी कहाँ तक पहुँचा था। ये सब बातें ज्ञान से जानी जाती हैं, नहीं तो जितना प्राणी शुद्ध होगा उतना ही जानेगा।

(२३०) ईश्वर सबको उपदेश करता है कि हे पुत्रो! तुम्हारा निज स्थान मैं हूँ। मैंने ही तुमको इस जगत में नियमानुसार भेजा है। अपने उत्तम गुणों को न भुला कर प्रकृति के गुणों में बर्ताव करो। अपने निज स्थान ही को पाओगे। अपने शुभ गुणों के भुलाने से ही इस माया चक्कर में घूमते रहते हो।

(२३१) श्लोक (श्रीमद्भगवद्गीता अ० ८ श्लोक २०, २१, २२)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्ता सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यतिसु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यांतः स्थानि भूतानि येन सर्व मिदम्ततम् ॥२२॥

श्लोकार्थ :—(२०) किन्तु इस ऊपर बतलाये हुये अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है कि सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता ।

(२१) जिस अव्यक्त को अक्षर भी कहते हैं, जो परम अर्थात् उत्कृष्ट या अंत को गति कहा जाता है और जिसे पाकर फिर (जन्म में) लौटते नहीं हैं, वही मेरा परम स्थान है ।

(२२) हे पार्थ ! जिसके भीतर सब भूत हैं और जिसने इन सबको फैलाया है अथवा व्याप्त कर रक्खा है वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है ।

(२३२) (विचार) देखो श्रीकृष्ण भगवान साफ़-साफ़ कहते हैं और मैं भी उसी को प्राप्त हूँ अर्थात् उसी ब्रह्म में रहता हूँ जिसमें सब भूत हैं, जिसने इन सबको फैलाया, व्याप्त कर रक्खा है, उसी को ज्ञानी पुरुष भी ज्ञान से प्राप्त होते हैं ।

(२३३) ईश्वर का चित्त एक भण्डार घर है, इसी में त्रिकालज्ञता शक्ति जन्मती है । इसी में जीव और प्रकृति रहते हैं ।

(२३४) प्रलय काल में शुद्ध जीव स्मरण शक्ति में रहते हैं और बन्धक जीव प्रकृति में अज्ञानता से रहते हैं ।

(२३५) इस जगत की उत्पत्ति जीव और प्रकृति के द्वारा शक्ति ही से होती है। माया और जीव शक्ति के आधीन होते हैं।

(२३६) जब जीव शुद्ध होकर ईश्वर चित्त को प्राप्त होता है, जब उसे शक्ति ही मिलती है। इसी शक्ति को लेकर अनेक लोकों में घूम-घूम कर अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करता है।

(२३७) मोत्ती जीव और इस जगत के बनाने की शक्ति दोनों एक स्थान में रहने वाले हैं, इसीसे इस जगत और प्राणियों के सब व्यवहारों को जानता है। ये सब एक ही चित्त की सन्तति होने से मोत्ती जीव इस जगत में कह सकता है कि मेरा स्मरण कर, मैं शक्ति रूप हूँ, मैं ही इस जगत में भरा हुआ हूँ, और मेरे ही में आ मिलेगा। जिस स्थान में मैं रहता हूँ और सब प्राणी देहधारियों से श्रेष्ठ होने से इस देह में रह कर भी अदेह रहता है अर्थात् सङ्कल्प मात्र से रहता है।

(२३८) ईश्वर शरीर धारण नहीं करता। इस जगत की धारणा रचना साक्षी हो के जीवों के भले-बुरे कर्मों का फल देना और प्रलय किया करता है और सर्वत्र रहते हैं, रचना काल में एकान्तर नहीं होते हैं।

(२३९) जो किसी का न पुण्य लेते हैं और न किसी के पापों को क्षमा करते हैं, जैसा करता है वैसा फल देते हैं अर्थात् प्राणियों के पुण्य को न लेकर • उसके बदले में मोक्ष का सुख देते हैं।

(२४०) अनादि जीव अपनी बारम्बार जब-जब मोक्ष प्राप्त करके इस जगत से जाता है, तब-तब अपनी पूर्व मोक्षों का आनन्द जान लेता है और वर्तमान का हाल जानता रहता है और भविष्य का हाल अपनी अवधि तक का ज्ञात रहता है, इससे आगे का नहीं रहता, फिर इस जगत में उत्तम कुल में आ के जन्म लेता है।

(२४१) स्वयं परमात्मा भी अपनी सामर्थ्य का उपयोग लेता है। इससे जीवात्मा ब्रह्म में निकम्मा न रह कर अपने ज्ञान-शक्ति से मोक्ष में स्वतन्त्रता से बर्ताव करता है।

(२४२) जो ब्रह्म-ज्ञानी को इस शरीर में ज्ञान से अनुभव होता है वह मोक्ष में प्रत्यक्ष होता है।

(२४३) पहले जीवात्मा अज्ञान वश इस स्थूल और इन्द्रियों को ही अपनी आत्मा जानकर माया का अनुभव करता है।

(२४४) जब अज्ञान का परदा हट जाने से जीव और माया दोनों भिन्न-भिन्न का अनुभव होने

लगता है, जीवात्मा को परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

(२४५) परमेश्वर के ज्ञान से मोक्ष सुख का ज्ञान होता है। शरीर छोड़ने के पश्चात् वह ज्ञान अनुभव ही को प्रत्यक्ष भोगता है।

(२४६) जब ईश्वर प्रत्यक्ष है तो उसका नियम भी प्रत्यक्ष ही होता है अर्थात् ज्ञान का करता प्रत्यक्ष है तो ज्ञानी का अनुभव भी प्रत्यक्ष होता है।

(२४७) सतयुग के पहले चार सौ वर्ष देवों का है सन्धिकट का, मनुष्य लोक का एक लाख चौआलीस हज़ार वर्ष होता है और सतयुग का चार हज़ार वर्ष देवों का होता है जिसका चौदह लाख चालीस हज़ार वर्ष हुआ फिर सन्धिकट का चार सौ वर्ष होता है। उसका भी एक लाख चौआलीस हज़ार वर्ष होता है। सब मिलाकर १७२८००० वर्ष हुआ। त्रेता का तीन सौ वर्ष का १०८००० वर्ष हुआ जो संधिकट का है, और तीन हज़ार वर्ष त्रेता का १०८०००० वर्ष हुआ, फिर तीन सौ वर्ष सन्धिकट का १०८००० वर्ष और सब मिला कर १२९६००० वर्ष हुआ। द्वापर का सन्धिकट का दो सौ वर्ष जिसका ७२००० वर्ष हुआ दो हज़ार द्वापर का, जिसका ७२०००० वर्ष हुआ और २०० वर्ष फिर सन्धिकट का

जिसका ७२००० वर्ष हुआ और सब मिलाकर ८६४००० वर्ष हुआ। कलियुग का सन्धिकट १०० वर्ष जिसका ३६००० वर्ष हुआ और १००० वर्ष कलौ का जिसका ३६०००० वर्ष फिर १०० वर्ष सन्धिकट का ३६००० वर्ष हुआ और सब मिलाकर ४३२००० वर्ष हुआ। महायुगों का टोटल ४३२०००० वर्ष का हुआ।

(२४८) ऐसे-ऐसे इकहत्तर महायुग होने से एक मन्वन्तर होता है। एक मन्वन्तर का एक ऋषि होता है। १४ मन्वन्तरों का ९९६ महायुग हुआ, और ६ महायुग सन्धिकट का मिलाकर एक हज़ार महायुग होता है और एक हज़ार महायुग रात्रि का मिलाने से दो हज़ार युग होने से इसी को एक प्रलय कहते हैं और ब्रह्मदेव का एक दिन हुआ, अर्थात् मोक्षी पुरुषों का एक दिन हुआ। ब्रह्मदेव का ५० वर्ष बीत कर ५१वाँ आरम्भ है और पहिला दिन वर्तमान है और पहिले दिन में से ६ मन्वन्तर बीत चुके, सातवाँ मन्वन्तर आरम्भ है और ७ वें मन्वन्तर में से २७ महायुग बीत चुके और २८ वाँ जारी है और ७ मन्वन्तर के सात ऋषि और इसके पूर्व चार ऋषि हो गये। गीता अ० १० श्लो० ६ में देखिये।

(४९) मोक्ष में जीव आनन्द करता है। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उस आनन्द का अनुभव ज्ञानी पुरुषों

को होता है। गीता अ० ६ श्लोक २० से २३ और २७ से २८ और अ० १४ श्लोक २० में देखिये।

(२५०) मुक्त जीव इस उत्पत्ति काल में न आकर प्रलय काल में ईश्वर में व्यथा नहीं पाते। गीता अ० १४ श्लोक २ देखिये।

(२५१) ईश्वर आत्मा और प्रकृति तीनों भिन्न-भिन्न हैं। गीता अ० ७ श्लोक ४, ५, ६, ७ और अ० ९ श्लोक ४, ५, ६ में देखिये।

(२५२) मेरा समस्त सज्जनों से विनम्र निवेदन है कि इस "ज्ञान विचार गीता" पुस्तक में अधर्म का त्याग और धर्म का धारणा है। अतः यह सब सज्जनों के पढ़ने योग्य है।

(२५३) परम पिता परमात्मा मेरी आप से करबद्ध विनय है कि गऊओं का उद्धार कीजिये और सत्पुरुषों की रक्षा कीजिये और प्राणी मात्र के हृदय में इस बात की चेष्टा उत्पन्न कर दीजिये कि गऊओं का उद्धार करने पर उतारू हों। गऊ ही एक सच्ची देव-पूजा है, इसी से समस्त प्राणियों का पालन होता है। इस माता के प्रति प्रेमी होना चाहिये। कल्याण को प्राप्त होगा। सत्य ३॥

(२५४) हे ईश्वर आप से मेरी करबद्ध प्रार्थना है, आप आदि हो, सब से श्रेष्ठ हो और मैं आप में बसा हुआ हूँ और मेरे अन्दर भी आप ही हैं इससे आप बाहर और भीतर हो, आपके बीच में अलग पड़ा हूँ, इससे आप दया करके अपने अन्दर लीजिये।

(२५५) मेरी परम पिता परमात्मा से विनय है कि इस समस्त भूगोलों के धर्मों को एक सूत्र में बाँध कर हानिकारक नियमों को छुड़ा कर धर्म की स्थापना करके आनन्ददाई करें।

(२५६) जीव और माया, पुरुष और प्रकृति, आत्मा या कर्म, निर्गुण पारब्रह्म से यह सगुण कैसे और कब हुये, यह बताना मानवी बुद्धि के परे है। परण ईश्वर अनादि है, इसी से ऊपर बतलाये गये कारण भी ईश्वर की सत्ता के साथ-साथ अनादि होना चाहिये।

(२५७) प्रलय-काल में जब ईश्वर एकाग्र होता है तब ऊपर-नीचे, आजू-बाजू कुछ भी नहीं रहता, अकेला अपनी स्वयं शक्ति से एकाग्र होता है और यह जगत कारण भी इकट्ठे होकर ईश्वर सत्ता से एकाग्र हो जाया करते हैं और ईश्वर के गर्भ में रहने वाला आत्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ को इस बात का स्मरण रहता है कि ईश्वर एकान्तर है और जगत का कारण उसी आधार पर है।

(२५८) पण इस बात को हिरण्यगर्भ आत्मा भी नहीं जानता कि इस जगत का कारण कब और कैसे हुआ कारण वह भी तो आत्मा ही तो है, कितना भी श्रेष्ठ और उत्तम क्यों न हो। सब से उत्तम पारब्रह्म ही है, उनकी स्वशक्ति इस ओर रहती है, तो प्रभाव उस ओर होता है।

(२५९) रचना-काल के आरम्भ में ईश्वर एकान्तर से अदर्श रूप सर्वत्र होता है, उसी के अन्दर सारा दर्श जगत उत्पन्न होता है। इस दर्श में साक्षी रूप होकर रहता है।

(२६०) ईश्वर रचना-काल से लेकर महाप्रलय में भी अदर्श रूप है। अदर्श में ही लय होकर अदर्श से ही इस जगत का कारण उत्पन्न होता है और ईश्वर की सामर्थ्य किसी को जाननी हो तो प्रत्यक्ष शरीर में रहने वाली आत्मा को अवलोकन करे। इसी का कोई किसी तरह का भी नुकसान नहीं कर सकता, फिर ईश्वर के सामर्थ्य का कौन वर्णन कर सकता है।

॥ समाप्त ॥